संरक्षक मंडल

1. श्री सुमति प्रसाद जैन
   विनोद ट्रेडर्स, कूंचा महाजनी, दिल्ली-6
2. श्री राकेश कुमार जैन
   701, कमानिया गेट, जबलपुर (म० प्र०)
3. श्री गुलाब चन्द्र दर्शनाचार्य
   मदन जनरल स्टोर, जबलपुर (म० प्र०)
4. श्री डालचन्द्र भोलानाथ जी जैन
   शकुन्तला निवास, महात्मा गांधी मार्ग, बोरीवली (पूर्व) बम्बई
5. श्री महेन्द्र कुमार मनीष कुमार जैन
   139-140 दालमडी, सदर-मेरठ (उ० प्र०)
6. श्री मूलचन्द्र सुनील कुमार जैन
   123-124 स्वराज्य पथ, सदर-मेरठ (उ० प्र०)
7. श्री नरेन्द्र कुमार राठौड़
   राठौड़ ओरनामेंटस्, गुजरी बाजार, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)
8. श्री सुमत प्रसाद जैन
   वर्धमान ड्रग्स, दरीबा कलाँ, दिल्ली-6
9. श्री विनय कुमार जैन
   जनता मेडिकल स्टोर, खेकड़ा-201101
10. श्री ज्ञानचन्द्र जी जैन
    6464 कटरा बड़ियान, दिल्ली-6
11. श्री अजीत समदड़िया
    समड़िया आभूषण भंडार, सर्राफा, जबलपुर (म० प्र०)
12. डॉ० प्रेमचन्द्र जैन
    कोसी कलाँ, मथुरा (उ० प्र०)
13. श्रीमती संयोगिता सुभाष जैन
    B-306, गोमती अपार्टमेंटस्, बोरीबली (पश्चिम) बम्बई
14. श्री सुकुमार चन्द्र जैन
    पन्नालाल नगर, बोरीबली (पूर्व), बम्बई
15. श्री ओमप्रकाश जैन
    रघुछाया, एस० वी० पी० रोड़, बोरीवली (पश्चिम), बम्बई

आचार्य श्री विद्या सागर उवाच

एक वार एक व्यक्ति मेरे पास आकर कहने लगे—"महाराज जी! कुछ कृपा कर दो, जिससे काम चलने लगे। क्या काम आप करना चाहते हैं? मैंने पूछा—यही चलना, फिरना, भोजन-पान आदि। उन्होंने कहा। इन कामों में वाधा क्यों आती है? महाराज क्या कहूं? मुझे दिखता नही है। कुछ जन्त्र-मन्त्र कर दो, जिससे दिखने लगे, उन्होंने कहा। मैंने पूछा—'क्या अवस्था है आपकी? उत्तर मिला, महाराज! ज्यादा नही पिचासी की होगी।

उन महानुभाव की बात सुनकर मुझे लगा कि मानव जव जर्जर शरीर हो जाता है, इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं तव भी भोगोपभोग की आकांक्षा नहीं छोड़ना चाहता। इसीलिए नीतिकारों ने कहा है—

"यावत्स्वास्थ्यं शरीरस्य, यावच्चेन्द्रिय-सम्पदः।
तावद्युक्तं तपः कर्म, वार्धक्ये केवलं श्रमः॥"

अर्थात् जव तक शरीर स्वस्थ है, और इन्द्रियां अपना कार्य करने में समर्थ हैं, तव तक आत्म-कल्याण के लिए कुछ कर लेना चाहिए, अन्यथा वृद्धावस्था आयेगी, शरीर निश्चित ही शिथिल होगा और इन्द्रियां भी शक्तिहीन होयेंगी। उस अवस्था में मात्र पश्चात्ताप ही शेप रह जायेगा।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शक्ति यदि प्राप्त हुई है, तो उसका सदुपयोग करना चाहिए। भोगोपभोग सामग्री के इकट्ठे करने मे शक्ति को लगाना उसका दुरुपयोग करना है। संसार के अन्दर कोई अमर वनकर नहीं आया है। एक दिन सवको यथास्थान जाना है।

"विपय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुःख सह्यो।"

भाग्यवश कभी देव भी हो गया' तो वहां विपयों की चाह रूपी दावानल में जलता रहा और अन्त में माला मुरझाने पर इस प्रकार का संक्लेश करता है कि उस काल में एकेन्द्रिय की भी आयु वांधकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक में उत्पन्न हो जाता है।

"तहतें चय थावर तन धर्‍यो, यों परिवर्तन पूरे कर्‍यो।"

यह जीव कव-से परिवर्तन कर रहा है, और कव तक करता जायेगा, इसका ठिकाना नही है। यह निश्चिय समझिये देवों का आयु-वन्ध, भुज्यमान आयु के अन्तिम छह माह शेप रह जाने पर आठ-अपकर्पो के माध्यम से होता है। इसलिए देव को अन्तिम जीवन में सावधानी वरतने से संकट से वच सकते हैं, परन्तु

कर्मभूमिज मनुष्य, तिर्यंच का आयु-बन्ध, भुज्यमान आयु के दो भाग निकलने पर प्रारम्भ होता है । जबकि इन मनुष्य-तिर्यंचों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि मेरी आयु कितनी है और उसका तृतीय अंश कब प्रारम्भ होने वाला है ? इस दशा में तो उसे सदा सावधान ही रहना पड़ेगा अन्यथा असावधानी से खोटी आयु का बन्ध हो सकता है ।

सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि जीवन क्षण-भंगुर है । बिजली की कौंध के समान नश्वर है पर, मिथ्यादृष्टि सोचता है कि अभी क्या हुआ-अभी-अभी तो आया हूं । कुछ भोगोपभोग का भी मजा ले लेने दो । पर वह यह सब सोचता ही रहता है । इधर जीवन की लीला समाप्त हो जाती है ।

हर एक व्यक्ति को धर्म-साधना के लिए अपना जीवन-क्रम निश्चित कर लेना चाहिए । इसके बिना वह लक्ष्यहीन हो भटकता ही रहता है । जो जीवन क्रम निश्चित कर घर में कुछ साधना कर लेते हैं उन्हें आगे का मार्ग सरल हो जाता है । अभ्यास के बिना कार्य की सिद्धि होना सम्भव नहीं है ।

दक्षिण में दशहरा का त्योहार होता है । खूब उत्सव मनाते हैं । उस समय लोग आपस में सोना बाँटते हैं । यह सोना नहीं । एक वृक्ष के गोल-गोल पत्तों को वे सोना कहते हैं । उन्हीं का आदान-प्रदान करते हैं । गेहूं भी घर में बोकर उगाते हैं । सात-आठ दिनों में गेहूँ के पौधे बड़े हो जाते हैं । पर, सूर्य की किरणों का प्रकाश न मिलने से पीले-पीले रहते हैं, जैसे टी. बी. के मरीज । आपके प्रदेश में भी तो श्रावण-मास में कजलियाँ निकालते हैं । लो जैसी होती हैं वे पीली-पीली अन्धकार में रहने से उनमें वृद्धि तो अधिक हो जाती है, परन्तु सर्दी-गर्मी सहन करने की क्षमता नहीं रहती । जो पौधे सूर्य किरणों के प्रकाश में बोये जाते हैं वे हरे-भरे होते हैं और उनमें सर्दी-गर्मी सहन करने की क्षमता रहती है । फल-फूल भी उन्हीं में लगते है, पीली पीली कजलियों में नहीं । अतः बाधाओं को सहन करने वाला, निरन्तर साधना करने वाला व्यक्ति ही अन्त में सफल होता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घर में आग लगने पर कुआ खुदवाने से कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार वृद्धावस्था में धर्म का मार्ग अंगीकृत करने लाभ नहीं होता । धर्म तो शरीर की शक्ति रहते हुए कर लेना चाहिए । जिस प्रकार युवावस्था की कमाई को मनुष्य वृद्धावस्था में आराम से भोगता है, उसी प्रकार युवावस्था की धर्म-साधना का उपयोग वृद्धावस्था में करता है ।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने कहा है—

"रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग-संपत्तो।
एसो जिणो वदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।"

अर्थात् रागी जीव कर्मों को बांधता है, और विरागी जीव कर्मो को छोड़ता है। यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। इसीलिए कर्मो में रागी मत बनो।

भव्य-जीव विरागी होकर सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति वाले मिथ्यात्व कर्म को अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति में ला देता है। इतना ही नहीं, उसे समाप्त कर सकता हैं। परन्तु अभव्य नही। अभव्य जीव को विशुद्ध-लब्धि नहीं होती, अर्थात् उस जाति की विशुद्धता में वह देशना से लाभ नही ले सकता। गुरुओं की देशना को सुन लेना ही देशना-लब्धि नही है। पर उसके ग्रहण, धारण और अनुभव की शक्ति आ जाना देशना-लब्धि है।

बहुत पहले गृहस्थावस्था की बात है। एक बार एक सज्जन आकर बोले—जरा, हमारे घर चलिए। एक भाई को बड़ी वेदना हो रही है उसे संबोध दीजिए। मैं चला गया। जाकर देखा कि उसकी हालत मरणासन्न है। अतः मे 'णमोकार-मन्त्र सुनाने लगा। वहीं खड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति कहने लगा कि यह मर थोड़े ही रहा है—जो आप 'णमोकार मन्त्र' सुना रहे हैं। मुझे लगा कि देखो ये रागी प्राणी धर्म-कर्म की बात सुनना चाहते है, जब उसमें सुनने-समझने की शक्ति भी शेष नहीं रह जाती थोड़ी देर बाद उस व्यक्ति का प्राणान्त हो गया। राम-नाम सत्य है, ही शेष रह गया।

दीपक जब से जलना शुरू करता है, तभी से बुझने लगता है। जितना तेल समाप्त हो जाता है, उतना ही वह बुझता जाता है। जब बिलकुल समाप्त हो जाता है, तब अन्धेरा ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार, इस जीव का अनुवीचि मरण प्रत्येक समय हो रहा है। यह जीव नवीन शरीर के परमाणुओं को ग्रहण करने के पहले ही अपनी एक दो अथवा तीन समय की आयु समाप्त कर चुकता है। तात्पर्य यह है कि जब मरण प्रति समय हो रहा है तो प्रति समय सावधानी बरतनी चाहिए।

बिजली ऊपर चमकती है। उसे देखने से लाभ नही, किन्तु उसके प्रकाश में अपने पैरों के नीचे की भूमि को देख लेने में लाभ है। हम लोग किसी का उपदेश सुनते है, पर उस उपदेश को सुनकर अपने आप की ओर नही देखते। काम तो अपने आपको देखने से सिद्ध होगा। जो वस्तु जहाँ है वही उसकी खोज करनी चाहिए।

एक बुड़िया की सुई गुम गयी उसे अन्धेरे में ढूंढ़ती देख किसी ने कहा—'माँ' ! अंधेरे में क्या ढूंढ़ती हो, उजेले में ढूंढ़ो । वह जहाँ उजेला था वहाँ ढूंढ़ने लगी । दूसरा आदमी आया, आकर पूछता है माँजी ! क्या ढूंढ़ रही हो ? बेटा, सुई ढूंढ़ रही हूं, बुढ़िया ने कहा । कहाँ गुमी थी यह तो पता है ? गुमी तो वहाँ थी पर ढूंढ़ यहाँ रही हूं । एक आदमी ने कहा—तो यहाँ ढूँढ़ने से थोड़े ही मिल जायेगी । बुढ़िया झुंझलाकर बोली—एक कहता है उजेले में ढूँढ़ो और एक कहता है अंधेरे में ढूँढ़ो । किस-किस की बात मानूं । उस आदमी ने समझाया—कि जहाँ सुई गुमी है वहाँ उजेला लेकर ढूँढ़ो तो मिलेगी, नहीं तो नहीं ।

यह तो एक दृष्टान्त रहा । परमार्थ यह है कि हम लोग भी तो धर्म को कहाँ ढूंढ़ते हैं ? तीर्थ स्थानों में, ऋषियों के प्रवचनों में, परन्तु धर्म तो हमारी आत्मा में है । उसकी उपलब्धि वहीं होगी मन्दिर आदि को उसका साधन बनाया जा सकता है ।

उदासीनाश्रम की बात एक दिन आया । परन्तु आज कोई व्यक्ति साधक उदासीन तो दिख नहीं रहा है । हाँ आश्रम ही जरूर उदासीन दिख रहा है । मात्र मकान बनाकर खड़ा कर लेना उदासीना श्रम नहीं है । आप लोगों में यदि उदासीनता आए तो उदासीनाश्रम अपने आप बन जायेगा । बोलो है कोई आप लोगों में उदासीन बनने को तैयार ? कोई नहीं !

भोगोपभोग की लालसा को घर में भी घटाया जा सकता है । पर, घटाया तब जा सकता है जब उसका लक्ष्य बनाया जाये, क्योंकि लक्ष्य के बिना किसी भी कार्य में सफल होना सम्भव नहीं ।

अरे 'अणुव्रत' का धारण करना कोई कठिन नहीं है । लक्ष्य करो उस ओर तो अणुव्रत का पालन सरलता से हो सकता है । अणुव्रत का अर्थ होता है छोटा व्रत और 'अनुव्रत' का अर्थ होता है व्रत के पीछे लगना । अणुव्रत और अनुव्रत में से जो शक्य हो उसे अवश्य प्राप्त करो और विरक्ति की ओर बढ़ने का प्रयास करो ।

"चरणम् अनुसरतव्यम्" चरणम् का अर्थ है चरित्र और उसका अनुसरण करना अर्थात् पालन करना । जिस चरित्र के माध्यम से वह अमूर्त्त द्रव्य भी प्राप्त हो जाता है; वह अनन्तात्मक द्रव्य कहां तक छिपा रहेगा ? कहां तक अमूर्त रहेगा ? साधना तो वह है जो साध्य का मुख दिखा दे । 'मूलाचार' ग्रन्थ मूल प्राकृतभाषा में है । इस पर सकलकीर्ति आचार्य महाराज ने संस्कृत भाषा में टीका लिखी । इसमें कृतिकर्म का प्रसंग है । अर्थात् साधु के करने योग्य कार्य का वर्णन है । इस ग्रन्थ में आचार्यों ने पद-पद पर प्रत्येक गाथा में साधुओं को उनके

कर्त्तव्यों के प्रति इंगित किया है। जिन कर्त्तव्यों का पालन करके साधु-जन्म, जरा और मरण के दुःखों से बचकर शीघ्र ही अनन्त सुख रूप मुक्ति का लाभ लेते हैं, और जो स्वभाव विभाव में परिणत हो चुका था, उस स्वभाव को प्राप्त करके उस अमूर्त आत्म-द्रव्य का साक्षात्कार करते हैं।

साधु का पद महान् माना जाता है। अतः बड़े-बड़े आचार्य भी उस साधु के लिए तीन सन्ध्याओं में नमस्कार करते हैं, क्योंकि मुक्ति का साक्षात् लाभ तो न आचार्य को है और न उपाध्याय को है। पर; मुक्ति को साक्षात् प्राप्त करने का अधिकारी तो मात्र साधु ही है। बड़े-बड़े महान् आचार्य भी जो उस साधु को नमस्कार कर रहे हैं, इसका मतलब यह है कि उनकी दृष्टि उस द्रव्य की ओर है, पर्याय की ओर नहीं। आचार्य, उपाध्याय और साधु में वैसे साधु-पद की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है क्योंकि सभी समान रूप से अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करते हैं। दूसरी बात यह है कि साधु ही साधना के अन्तिम बिन्दु पर पहुंचता है। इसलिए भी साधु-पद की महिमा बतायी गई है।

अध्यात्म और आचारपरक महान् ग्रन्थों को लिखकर आचार्यो ने हमारे ऊपर महान् उपकार किया है। कल्याण करने के लिए दिशा-बोध दिये गये है, फिर भी उनकी उपेक्षा करके स्वार्थ-सिद्धि के लिए हम किस ओर खिचते चले जा रहे हैं। बड़े-बड़े शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी अनुभूति के नाम पर हम कुछ नहीं कर पाये। स्मृति के माध्यम से बुद्धि का आयाम करके मात्र कोश बना लिया है दिमाग में। ज्ञान कब हृदयंगम होकर चरित्र में उतरता है तभी उपयोगी होता है, अन्यथा नहीं।

गौतम स्वामी ग्यारह अंग और नौ पूर्व के ज्ञाता थे, किन्तु यह सब बीज सम्यक्दर्शन के थे। सम्यक्दर्शन होने के पूर्व तक वे एक तापस, एक ब्राह्मण परिचालक थे, किन्तु उनमें अंकुर लक्षण बहुत होनहार को लेकर थे। एक इतिहासकार का कहना है कि वर्तमान में एक अंग का अंश मात्र ज्ञान शेष है। वह भी क्रमशः क्षीण होता जा रहा है। वह इन्द्रभूति ब्राह्मण ग्यारह अंग और नव पूर्व के क्षयोपशम-ज्ञान की शक्ति लेकर चलने वाला था, मात्र पानी के सिंचन की आवश्यकता थी। ज्योंही उसने महावीर के समवशरण को देखा त्योंही मान गल गया और जो सम्यग्दर्शन शक्ति-रूप में था वह प्रकट हो गया और वह संयमी बन गया। उसी प्रकार प्रत्येक भव्य आत्मा में भी ऐसी ही शक्ति विद्यमान है, उसके क्षय, क्षयोपशम की आवश्यकता है और वह शक्ति उसे प्राप्त हो सकती है। उस शक्ति को प्रकट कर जीव अपने योग और उपयोग को शुद्ध कर सकता है।

वह योग पवित्र है। संयोग एक दो में नहीं अनेक में है। अनन्त का मिटना

मुश्किल कार्य है, वियोग भी दो के ही मध्य होता है। संसारी प्राणी संयोग और वियोग के पीछे पड़ा है। उसने योग कभी नही साधा। योग क्या चीज है ? संयोग और वियोग को भूल जाओ। योग पर दृष्टि रखो। योग में न कोई संघटन है न विघटन, न कोई इष्ट-वियोग, न कोई अनिष्ट-संयोग होता है। जो कुछ होता है वह होता ही है। उसका दर्शक मात्र योगी होता है। जिसकी दृष्टि में पदार्थ का परिणमन मात्र है, उसे इष्ट-अनिष्ट का अनुभव कैसे होगा ? अकेले में क्या संयोग और क्या वियोग। जब योग शब्द पर लगे हुए 'वि' और 'सम' उपसर्ग हट जाते हैं, और 'उप' यानी निकट का सम्बन्ध लग जाता है तब वह योग उपयोग में परिणत हो जाता है। अर्थात् सिर्फ साधक की परिणति उपयोगमय हो जाती है। अतः हमारा तो सबसे यही कहना है—बन्धुओ ! आज आप सभी लोग उपसर्ग, सयोग-वियोग इन सभी चीजों से हटकर अपने उपयोग का सही-सही उपयोग करो।

एक व्यक्ति ने कहा—मैं बहुत दुखी हूं। मैंने पूछा—तुम्हारा दुःख क्या है ? वह बोला—मैं बड़ा बनना चाहता हूं। मैंने कहा—यह शुभ बात है। किन्तु बड़ा बनना नहीं 'बड़ा' हूं यह देखना है। बड़े बनने की इच्छा छोड़ दो। बड़ा-छोटा ये कल्पना मात्र है। छोटी-बड़ी दिखती हैं तथा तुलना करने से अच्छे-बुरे की कल्पनाएं जन्म लेती हैं। अतः दूसरों को मत देखो। अपने आपको देखो। सब कुछ तैयार है, कुछ करना नहीं है। मात्र कल्पनाएं करना छोड़ दो। कल्पनाएं छोड़ना है और कुछ नहीं करना है। यह कार्य साधारण नही। विषय-कषाय से युक्त प्राणियों के लिए यह कार्य असाध्य तो नहीं, पर दुःसाध्य अवश्य है।

धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए जो दोनों हाथों में धन-सम्पत्ति का कचरा है उसे फेक दो और दोनों हाथों में दया, दान, संयम के साधन आदरपूर्वक लो। दोनों कानों से जिनवाणी को सुनो। आंखों से भगवान् का दर्शन करना चाहिये। एक कान से ध्यानपूर्वक सुनकर दूसरे कान को बन्द कर लेना चाहिए ताकि बात निकले नहीं। हृदयंगम हो जाये। सब चुप कोई नहीं बोलता……………!

अनादिकाल से आत्मा की इस दीवार पर धर्म का कोई रंग-रोगन तो किया नहीं अभी तक, और अब नया रोगन लगाना चाहते हैं। अध्यात्म एक प्रकार का रंग है। इसका अलग ही रंग है। जब तक दीवार पर पुराने रंग का रंग है, उसका निवारण नहीं होता, तब तक समझना—अभीष्ट वस्तु बहुत दूर है। □

संकलन : अशोक जैन

मूकमाटी : एक समीक्षा

☐ डॉ० विमलकुमार जैन, दिल्ली

सन्त कवि, आचार्य विद्यासागर की काव्यकृति 'मूकमाटी' एक ऐसा रूपक महाकाव्य है जिसके प्रबन्ध कथानक में, अध्यात्म इतनी चारुता से संपृक्त है तथा जिसका निर्वहण आद्यन्त इतनी कुशलता से हुआ है कि कहीं भी विशृंखलता का आभास तक नहीं होता। इससे कवि की पारदर्शी दूरदृष्टि का परिचय मिलता है।

महाकाव्य में सर्गबंधता होती है। उसमें एक नायक होता है जो देव हो या क्षत्रिय, धीरोदात्त गुण-समन्वित तथा कुलीन होता है। श्रृंगार, वीर एवं शान्त रसों में से एक अङ्गी रस होता है और अन्य रस अङ्ग रूप में वर्णित होते हैं। कहीं-कहीं पर खलादि की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होती है। इनके अतिरिक्त इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्र रजनी, दिवा, प्रदोपकाल, प्रातः, मध्याह्न, ऋतु एवं सागर, मुनि, स्वर्ग, पुर, अध्वर, रणप्रयाण, मंत्र और पुनर्जन्म आदि का वर्णन होता है।

'मूकमाटी' काव्य में प्रायः ये सभी लक्षण विद्यमान हैं। यह काव्य सर्गबद्ध हैं। रूपक होने के कारण इसका नायक कुम्भकार रूप गुरु तथा माटी रूप मुमुक्षु आत्मा नायिका है। नायक धीरोदात्त रूप से ही निरुपित है क्योंकि आत्मा के अभ्युत्थान की प्रक्रिया में वह कही भी धैर्य नही खोता तथा सभी के प्रति उदात्त-वृत्ति रखता है। नायिका भी तदनुकूला है। इसमें शान्त रस की प्रधानता है और श्रृंगारादि शेष रसों का प्रसंगानुकूल अंकन है। इसका उच्च उद्देश्य संसार, सागर में निमग्न आत्मा का उद्धार करना है। इसमें स्थान-स्थान पर खलों की निन्दा और सन्तों की प्रशंसा भी है। इनके अतिरिक्त प्रकृति का चित्रण सूर्य, चन्द्र, रजनी, दिवा, प्रातः, संध्या, ऋतु, सागर तथा रण, मुनि, मंत्र और पुनर्जन्म आदि का बड़ा ही विशद चित्रण है, जिसका निर्देश हम प्रसंगवश आगे करेंगे। इन लक्षणों तथा रूपक-निर्वहण की पुष्टि के लिए हम इसके कथानक पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं।

प्रथम खण्ड—रजनी का अंतिम प्रहर है, सरिता तमसावृत धरातल पर वही जा रही है। कुछ क्षण पश्चात् सूर्य की रक्तिम आभा उस पर विचित्र चित्र बनाती है। इसी समय प्रभूत काल से धरागर्भ से सुप्त किन्तु उद्‌बुद्ध माटी धरती से कहती है—मां ! मैं जन्म-जन्मान्तर से पतिता, पद्‌दलिता हूं, इस पर्याय से मुक्ति चाहती हूं। धरती ने कहा -"बेटी ! सत्ता शाश्वत है, प्रतिसत्ता में उत्थान-पतन की असंख्य संभावनायें रहती हैं। छोटा-सा वटबीज विशाल वृक्ष बन जाता है। इस प्रकार सत्ता ही शाश्वत होती है। रहस्य की इस गंध का अनुपान आस्था की नासिका से होता है अतः सर्वप्रथम आस्था-सम्यग्दर्शन-की प्राप्ति परमावश्यक है। 'जैसी गति वैसी ही मति' इस उक्ति के अनुसार साधक के बोध अर्थात् सम्यग्ज्ञान के निमित्त आस्था मूल कारण है। इससे साधक के मन में स्वरातीत अनहद नाद का सरगम ध्वनित होता है।"

"साधक अपने को लघुतम जानता हुआ गुरूतम प्रभु को पहचानता है। असत्य के तथ्य की पहचान ही सत्य का अवधान है। आस्थाहीन का बोध पलायित हो जाता है और कषायें गुर्राने लगती हैं। अतः आस्था की दृढ़ता के लिए प्रतिकार, अनाचार, कषाय और रागद्वेष का त्याग अनिवार्य है। आस्थावान् यदि दमी, यमी और उद्यमी हो तो उसके आशा, धृति और उत्साह गुण उद्‌गत हो जाते हैं तथा आत्म विकास के लिए संघर्षमय जीवन हर्षमय हो जाता है।"

धरती के इस उद्‌बोधन से माटी को कुछ अन्तः प्रकाश सा भासित हुआ। वह बोली—प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन, विकृति और कलुष के संकुचन से आत्मा में सूक्ष्म परमात्मतत्त्व का बोध होता है तथा कर्मों का संश्लेषण और स्व-पर का विश्लेषण ये दोनों ही कार्य आत्मा में ममता की समता रूप परिणति पर ही होते हैं। यही आस्था है।

धरती बोली—बेटी तू मेरे भाव तक पहुंच गई। तेरा उद्धार समीप ही है। कुम्भकार (गुरु) आवेगा और यदि तू समर्पणशीला हो गई तो वही तेरा उद्धार करेगा। तदनन्तर रात-मिथ्यान्धकार-में मिट्टी का चिन्तन चलता रहा रहा कि उपयोग—सद्‌ज्ञान और सद्‌दर्शन—से विवाद में उल्लास, उद्वेग में असंग प्रकाश, कषायों में मूर्च्छा और दोषों में ह्रास आ जाते हैं; साधक पथिक अहिंसादि व्रतों को पालने लगता है; आचारों में साम्य से साधक में संप्रेषणीयता आ जाती है और संप्रेषणा से तत्त्वों—सात तत्त्वों—का ज्ञान होता है।

कुम्भकार (गुरु) आता है। वह स्थिरप्रज्ञ, अविकल्पी, हितमितभाषी तथा उदासीन है और कु=धरती (धरती के मनुष्यों) का भ=भाग्य+कार=विधाता है। उसने ओंकार को नमस्कार किया, अहंकार का वमन किया और

पुनः कुदाली—कुशाग्रबुद्धि—से माटी के ऊपर की परत (अज्ञान की परत) हटाई और माटी के गालों पर घाव देखकर उनका कारण पूछा। मिट्टी ने खोदने वालों की निर्दयता और अपनी उदारता बताई। शिल्पी ने समझाते हुए कहा कि अति के बिना इति का साक्षात्कार नहीं होता, इति के बिना अथ का दर्शन संभव नहीं। तात्पर्य यह है कि अति ही पीड़ा की इति है और यह इति ही सुख का अथ है।

कुम्भकार ने मिट्टी को गदहे पर लादा। गदहे को जब पसीना आया तो मिट्टी ने उसमें सनकर मानो मलहम लगाकर उसे सुख दिया। यह दयार्द्रता स्वदया का स्मरण कराती है। दया का विलोम 'याद' भी इसी सत्य की ओर इंगित करता है। जैसे वासना का विलास मोह है, वैसे ही दया का विकास मोक्ष है। अतः वासना हेय है और दया उपादेय है। माटी की दया भावना को देख गदहा सोचने लगा कि क्या ही अच्छा हो कि मैं भी सार्थक नाम हो जाऊं—गद=दुख+हा=नाशक अर्थात् परदुखहारी बनूं। इस विचार में 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' की ध्वनि गूंज रही है।

कुम्भकार (गुरु) का घर (धर्मस्थल) योगशाला है, जहां साधक को प्रशिक्षण मिलता है। घर आकर उसने मिट्टी को उतारा और छलनी (विवेक) से छानकर कंकड़ों (विभावों) को पृथक् किया। इस पर कंकड़ों को आपत्ति हुई। कुम्भकार ने कहा—मृदुता और ऋजुता मेरे शिल्प को निखारती है, तुम कठोर हो और वर्णसंकरताजनक हो अतः मैंने तुमको माटी से अलग किया है। जैसे नीर क्षीर में मिलकर क्षीर बन जाता है परन्तु उसी क्षीर में विष मिल जाए तो क्षीर भी विष बन जाता है। तुम माटी में तो मिले पर माटी न बने। हिमखण्ड पानी में तैरता ही रहता है, यह मान का द्योतक है। जल तरल है, ऋजु है अतः बीज को अंकुरित करता है पर हिम उसे जला देता है। हिम की डली मुंह में डालने से प्यास और भड़कती है। राही को यदि हीरा बनना है तो मान छोड़कर विलोम चले अर्थात् नमा=नम्र बने। तप की आग में राख होकर ही जीव खरा बनता है।

कुम्भकार (गुरु) मिट्टी को गीला करने के लिए कुएं से जल लेने को रस्सी की ग्रंथियां खोलता है। उसके दांत हिल जाते हैं, मसूड़े छिल जाते हैं अर्थात् अनेक कठिनाइयां आती हैं। ठीक भी है ग्रंथियों में हिंसा पनपती है अतएव गुरु निग्रंथ होते हैं। यदि रस्सी (गुरुभावना) में ग्रंथि रही तो गिर्री पर संतुलन बिगड़ने की भांति गुरु की क्रिया में भी संतुलन बिगड़ जाएगा। कुम्भकार की छाया कुंए में एक मछली (एक संत्रस्त भव्य आत्मा) पर पड़ी, उसकी मूर्च्छा ऊर्ध्वमुखी हुई और वह चिल्लाई—मेरा उद्धार करो। कुम्भकार ने रस्सी से बाल्टी

बांधी और उसे वाहर निकाला। वहां मछली ने देखा था कि वड़ी मछलियां छोटी मछलियों को खा जाती है। ठीक भी है अस्त्र-अस्त्र को काटता है, कृपाण में कृपा नहीं होती। यहां मछली मिष कुम्भकार वड़ी ही मनोहर उद्भावनाएं करता है—आधुनिक युग में मानवता दानवता से तथा 'वसुधैव कुटुम्वकम्' की भावना 'वसु एव कुटुम्वकम्' में वदल गई है, इत्यादि।

मिट्टी ने मछली को समझाया कि वेटी! यही तो कलियुग की पहचान है। सत् को असत् मानना ही कलियुग और सत को सत मानना सतयुग है। कलियुग की दृष्टि व्यक्ति पर रहती है और सतयुग की समष्टि पर। कलि शव है, सत शिव है। व्याधि से आधि और आधि से उपाधि भयंकर है अतः उपाधि इष्ट नहीं, समाधि ही इष्ट है। यह सुनकर मछली समाधि अर्थात् संलेखना ग्रहण कर लेती है और मिट्टी के कहने पर कुम्भकार उसे पुनः कूप-जल में उतार देता है।

द्वितीय खण्ड—शीत काल की रात है, शिल्पी (कुम्भकार) मिट्टी सानने में व्यस्त है पर शरीर पर केवल एक चद्दर है। मिट्टी ने कहा—आप एक कम्वल तो ले लो। शिल्पी ने उत्तर दिया कि यह तो कम वल वालों का कार्य है, मैं तो शीतशील हूं और ऋतु भी शीतशीला है। स्वभाव में रहना ही मेरा धर्म है—'वस्तु स्वभावो धर्मः'-पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है।

मिट्टी मौन हो गई। प्रातः हुआ और कुम्भकार मिट्टी को गूंदने लगा तो कुदाली से क्षत-विक्षत हुआ एक कांटा वदला लेने को उद्यत हो गया। तभी मिट्टी ने उसे उद्वोधित किया कि वदले में आग होती है, जो तन-चेतन को जला देती है। यह सुनकर वहीं खड़ा हुआ गुलाव का पौधा वोला—कांटे को वुरा न कहो, कभी फूल शूल वन जाते हैं और कभी शूल फूल। इन कांटों से ही मैं सुरक्षित हूं।

तत्पश्चात् शिल्पी ने जैसे ही मिट्टी को और अधिक मसला तो मिट्टी ने संसार का स्वरूप समझाते हुए कहा—'संसरीति संसारः —संसार संसरण शील है, अतः मैं चार गतियों और चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करती आ रही हूं। मिट्टी से घड़ा वना और पुनः उसे चाक से उतारा। उस पर अनेक अंक तथा चित्र अंकित किये, यथा—९९, ६३, ३६, सिंह-श्वान, कच्छप-खरगोश, ही—भी। इनसे उसने क्रमशः संसारचक्र, सामंजस्य, वैमनस्य, स्वतंत्र-परतंत्र, अप्रमाद-प्रमाद और एकान्तवाद (दुराग्रह) तथा अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का वोध दिया। कुम्भ पर ये वाक्य भी लिखे—'कर पर कर दो', 'मर हम मरहम वनें, 'मैं दो गला' अर्थात् मैं दोगला हूं, मैं को गला दो।'

अव शिशिर में ही वसन्त का अन्त होता है और निदाघ पदार्पण करता है।

यहां निदाघ और वसन्तान्त का क्रमशः बड़ा ही मनोज्ञ और उद्दाम वर्णन है। ऐसा लगता है कि कवि की लेखनी ने स्वयं सरस्वती बनकर पत्रों पर ऋतुओं को उतार दिया है।

तृतीय खण्ड—वर्षा ऋतु आ गई है। जल धरा का वैभव लूटकर सागर में ले गया है, जिसने उसका संग्रह कर लिया है। संग्रह ही परिग्रह है और परिग्रह मूर्च्छा है। सूर्य से जड़धी जलधि का यह अन्याय देखा न गया और उसने उसके जल को जला कर वाष्प बनाना प्रारम्भ किया। इस विग्रह में चन्द्र ने जल तत्त्व का पक्ष लिया और जलधि में ज्वार ला दिया। धरती ने कृतघ्न समुद्र को क्षमा कर उसे मोती दिए। इससे चन्द्र और भी क्रुद्ध हुआ और समुद्र को प्रेरित कर तीन बदलियों को भिजवाया। यहां पर बदलियों का बड़ा ही मनोरम चित्रण है। वास्तव में कवि ने बदलियों के मिष नारी के विविध रूपों का निरुपण किया है। नारी-नारी इसलिए है कि उसका कोई शत्रु नहीं है और न वह किसी की शत्रु है। मंगलमय होने से वह महिला है। पुरुष में अब=ज्ञानज्योति या अब= वर्तमान में आशाएं लाती है अतः अबला है या इसलिए अबला है कि वह बला नहीं है। धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थों में पुरुष का साथ देने से वह स्त्री है, प्रमातृ होने से माता है तथा उसमें सुन्दर भाव रहने से सुता है।

बदलियों ने अपने उज्ज्वल पक्ष को पहचाना और समुद्र का साथ न देकर मोती बरसाये। कुम्भकार कहीं बाहर गया हुआ था। मुक्ता—वर्षा का समाचार सुनकर राजा सदलबल आ गया, उसने मोतियों को बोरियों में भर लिया। बादलों को यह बुरा लगा, वे गरजने लगे, एक ध्वनि आई—अनर्थ, अनर्थ, अर्थ की उपलब्धि स्वयं श्रम करके करो। सज्जन परद्रव्य को मिट्टी समझते हैं— 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'। मोतियों (मोतियों के लाभ) ने बिच्छू बनकर सबको डस लिया, इसी समय कुम्भकार आ गया। उसने राजा से क्षमा मांगी। अपक्क कुम्भ ने राजा से व्यंग्य में कहा—जलती अगरबत्ती को छूने से जल गये न, लक्ष्मण रेखा लांघने वाला दण्डित होता ही है। कुम्भकार ने उसे मौन का संकेत कर मोती भरी बोरियां राजा को देकर विदा किया।

जब बदलियां लौटने लगी तो सागर ने स्त्रीरूप होने से उन्हें 'चला' कह डाला। प्रभाकर को यह उक्ति बुरी लगी और उसने बड़वाग्नि प्रज्वलित कर सागर को जलाना प्रारम्भ किया। सागर ने इसकी उपेक्षा कर तीन बादल भेजे कृष्ण, नील और पीत। ये तीन लेश्यायें हैं। उन्होंने प्रभाकर को आच्छन्न कर दिया। भास्कर ने प्रखर करों से उन्हें मारना प्रारम्भ किया। इस पर सागर ने राहु को भड़का कर उसका ग्रहण करा दिया। प्रकृति विकल हो गई तो कण-कण ने मां धरती से निस्तार की प्रार्थना की। धरती ने कणों को प्रहार की आज्ञा

दी, कणं प्रभंजन बन गये। भूकण सघन होकर भी अध से अनघ रहे अतः घन भागने लगे। कण पीछे और घन आगे। सागर ने पुनः और घन भेजे। प्रच्छन्न रूप से इन्द्र ने धनुष तानकर घनों का तन चीर दिया और विद्युत उत्पन्न कर वज्राघात किया, जिससे बादल रोने लगे पर जल कणों की मार मारते रहे। कुम्भकार स्थिरप्रज्ञ हो यह सब देखता रहा परन्तु गुलाब ने सखा पवन का आह्वान किया। वह आकर बादलों पर टूट पड़ा और उन्हें समुद्र पर ही धकेल दिया। इससे समुद्र पर ही ओले पड़ने लगे। इससे समुद्र शान्त हो गया।

आकाश धुल सा गया, सूर्य निकल आया और नवालोक हुआ। पर शिल्पी (गुरु) अनासक्त रहा। यह देख अपरिपक्व कुम्भ ने कहा—ठीक है, परीषह और उपसर्ग के बिना स्वर्ग-अपवर्ग की उपलब्धि कभी नहीं हुई। कुम्भकार अपरिपक्व की यह बात सुनकर समझ गया कि साधक ठीक मार्ग पर चल रहा है और कुम्भ से बोला—तुम्हें अब अग्निधार पर चलना है। इस पर कुम्भ ने कहा—साधक की अन्तर्दृष्टि में जल और अनल का भेद लुप्त हो जाता है तथा उसकी साधना-यात्रा भेद से अभेद की ओर बढ़ती ही रहती है।

चतुर्थ खण्ड—कुम्भकार ने अवा बनाया और बबूलादि की लकड़ियां चिनीं। अवा जलने लगा। निरपराध कुम्भ को जलाने में लकड़ियों ने अन्य मनस्कता दिखाई तो कुम्भकार ने कहा कि इसको तपाकर इसके उद्धार में मेरी सहायता करो, लकड़ियों ने सहयोग दिया और धूम निकला। कुम्भकार ने घुटकर कुम्भक प्राणायाम लगाया जो योगतरु का मूल है। उधर तपन और धूम से विकल कुम्भ को अग्नि ने ध्यान का स्वरूप समझाया तथा दर्शन और अध्यात्म का अन्तर बताते हुए कहा कि दर्शन का स्त्रोत मस्तिष्क है, अध्यात्म का हृदय, दर्शन सविकल्प और अध्यात्म निर्विकल्प ज्ञान।

कुम्भकार सो गया था। प्रातः जब उसने अवा की राख हटाई तो कुम्भ को पका देखकर बहुत प्रसन्न हुआ क्योंकि उसकी साधना सफल हुई। उधर कुम्भ भी स्वयं को मुक्त हुआ जानकर प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि मेरा पात्रदान किसी त्यागी को होना चाहिए। यहां पर साधुओं के मूल गुणों का बड़ी ही दार्शनिक किन्तु मनोरम भाषा में प्रतिपादन हुआ है।

रात को एक सेठ को स्वप्न आया कि वह मंगल कलश ले एक त्यागी का स्वागत कर रहा है। प्रातः होते ही उसने कलश लाने के निमित्त सेवक को भेजा। सेवक कुम्भकार के समीप पहुंचा और घट की याचना की। कुम्भकार ने कंकड़ से घट को बजाया तो सा रे ग म प ध नि की ध्वनि निकली। मानो कह रहा था—सारे गम पध (पद अर्थात् स्वभाव) नहीं हैं अर्थात् दुख मेरा स्वभाव

नहीं। सेवक घट को ले आया। सेठ ने उस पर स्वस्तिक चित्र बनाया और मांगलिक पदार्थों को सजाकर साधु की प्रतीक्षा करने लगा। जैसे ही साधु आया, उसने "नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, अत्रतिष्ठ, अत्रतिष्ठ" कहकर अभिवादन किया और विधि के साथ आहार दिया। त्यागी ने भी कायोत्सर्ग करके पाणिपात्र में आहार लिया। सेठ की प्रार्थना पर साधु ने सभी को उपदेश दिया कि यह दृश्यमान जगत मैं नहीं हूं अतः स्व में लीन हो पुरुपार्थ करना चाहिए—पुरुष= परमात्मा + अर्थ=प्राप्तव्य है। यह कहकर साधु चला गया। संत संगति से वंचित सेठ अत्यन्त खिन्न हो गया।

सेठ को विपण्ण देखकर कुम्भ ने उसे त्यागियों की महिमा बताकर आश्वस्त किया। सेठ को कुम्भ में साधुता के दर्शन हुए। इससे स्वर्ण कलश को ईर्ष्या हुई कि इतने मूल्यवान कलशों के रहते हुए मिट्टी के घट का इतना सम्मान! तब मिट्टी के कलश ने उसे ताड़ते हुए कहा—तुम अपने को सवर्ण समझते हो पर तुम्हारी संगति से तो दुर्गति का मार्ग खुलता है, मां माटी को मान दो, यह तुम्हारी भी मां है। स्व-पर का भेदज्ञान ही सद्ज्ञान है और स्व में रमण करना ही सद्ज्ञान का फल है। विपयों में रसिकता और भोगों की दासता संसार-बंधन के कारण हैं। ऋपि भी माटी की शरण लेते हैं, इसी पर शयन करते हैं। इस प्रसंग में वहीं पर विद्यमान झारी, चम्मच, घृत, केसर आदि का नोंकझोंक पूर्ण वार्तालाप बड़ा ही मनोरंजक है। सभी ने मिट्टी घट का उपहास किया।

रात को सोते समय खून का प्यासा एक मच्छर आया, उसने सेठ की प्रदक्षिणा की, कान में मंत्र भी जपा, तब भी कृपण ने कृपा न की। यह देखकर पलंग में विद्यमान मत्कुण ने कहा—सखे ! चौंको नहीं, ये बड़े लोग है, स्वयं के लिए ही संग्रह करते हैं पर हमको एक रक्त की बूंद भी दान नहीं करते। कुछ देर दोनों में बहुत ही रोचक किन्तु सारगर्भित सम्भापण हुआ। सेठ उसे सुनकर प्रसन्न हुआ और अपने को प्रशिक्षित सा अनुभूत करने लगा। परन्तु रात में नीद न आने से दाहज्वर हो गया।

प्रातः काल वैद्य बुलाये गये। सबने परामर्श करके कहा—दाहज्वर है। उन्होंने औपधियों से उपचार किए पर असफल। 'श स प' इन बीजाक्षरों से भी उपचार किया अर्थात् इनको श्वास से भीतर ग्रहण कराकर नासिका से ओंकार ध्वनि के रूप में बाहर बार-बार निकलवाया। अन्त में भू की शरण ली। भू की पुत्री माटी का टोप बनाकर सिर पर रखा, जिससे सेठ को संज्ञा आने लगी। उसके मुख से योगिगम्या, मूलोद्गमा, ऊर्ध्वानना पश्यन्ती के रूप में नाभिकी परिक्रमा करती हुई ओंकार ध्वनि निरक्षरा रूप में उठी, जिसने मध्यमा को जाग्रत कर हृदय

मध्य को स्पन्दित किया। पुनः तालु, कण्ठ, रसना का आश्रय ले वही मध्यमा-वाणी वैखरी बन कर निकली।

मिट्टी के उपचार से सेठ नीरोग हो गया और उसने पारिश्रमिक देकर वैद्यों को विदा किया। माटी का यह सम्मान देखकर स्वर्ण कलश में प्रतिशोध की भावना पुनः जगी, वह सोचने लगा कि कैसा कलियुग है जो झिलमिलाती मणिमालाओं, मंजुल मुक्तामणियों, उदार हीरकहारों, शुक चोंचों को लजाते गूंगे से मूंगों तथा नयनाभिराम नीलम के नगों को छोड़कर मिट्टी के लेप से उपचार होता है, स्वर्ण रजतादि के पात्रों को त्यागकर इस्पात के वर्तनों का क्रय होता है, जिससे हथकड़ी और वेड़ियां बनती है और चन्दन, घृत एवं कपूर को तिरस्कृत कर कर्दम का लेप किया जाता है। लोग संग्रह कर धनाढय बनते हैं और समाज-वादी कहलाते हैं। उसमें यह सोचकर अहं जगा और उसने आतंकवाद का आश्रय लिया। यह देख कुम्भ ने सेठ को सचेत किया और पीछे के द्वार से सपरिवार भाग जाने का संकेत दिया।

सेठ वन-उपवन की हरित वृक्षावलियों से जाता, सिंह-गजयूथों को अभय देता हुआ आगे बढ़ रहा था कि आतंकवादियों ने आक्रमण बोल दिया। गजों और नागों ने उन्हें बचाया और आतंकवादी भय से भाग गये। सहसा घनी घटाएं छा गयीं, प्रचण्ड हवन प्रवहित हुआ, वृक्ष शीर्पासन करने लगे, मूसलाधार वर्षा होने लगी और सब जलमग्न हो गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् सब शान्त हो गया और सबने सोचा लौट चलें परन्तु कुम्भ ने कहा—नहीं, अभी आतंकवाद शेष है, नदी को पार करना है। मेरे गले में रस्सियां वांधो और एक-दूसरे को पकड़ लो, मैं तुम्हें पार ले जाऊंगा। ऐसा ही हुआ, वे नदी में कूद पड़े, मत्सस्य, माकर, कच्छप, सर्पादि ने उन्हें खाना चाहा किन्तु उनके मैत्रीपूर्ण भावों से जलचरों के भाव बदल गए। तब नदी ने उन्हें भंवर में फंसाना चाहा पर कुम्भ का यह उपदेश सुनकर कि अरी पापिष्ठे ! तू भी तो धरती का आश्रय लेकर बह रही है नदी को ज्ञान हुआ और वह शान्त हो गई।

आतंकवाद निराश नहीं हुआ। उसने पत्थर बरसाये और ललकार कर कहा कि तुम समाजवादी हो, कहने से समाजवादी नही हो जाते। उसने जाल में फ़ंसाना चाहा। अन्त में देवों का आह्वान हुआ और उन्होंने आतंकवाद को परास्त कर सबका उद्धार किया। सेठ सपरिवार नदी से बाहर आया। वह हाथों में कुम्भ ले उसी स्थान पर आया जहां से कुम्भकार ने मिट्टी खोदी थी। धरती ने पुत्र का अभ्युदय देखकर प्रसन्नता प्रकट की और कहा—पुत्र ! तुमने मेरी आज्ञा मानकर कुम्भ का सत्संग किया, यह तुम्हारा सृजनशील जीवन का

आदिम सर्ग हुआ। उसके चरणों में समर्पित भाव से जो अहं का उत्सर्ग किया वह द्वितीय सर्ग हुआ, पुनः बड़ी कठोर परीक्षायें दीं, यह तृतीय सर्ग और तुमने जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाया, यह जीवन का अन्तिम सर्ग हुआ तथा तुमने अपने को निसर्ग किया, यह जीवन का वर्गातीत अपवर्ग हुआ।

यह सुनकर कुम्भ नतमस्तक हो गया। इसी समय सभी ने एक पादप तले वीतराग साधु को देखा, वे वहाँ गये, प्रणाम किया और पावन कलश जल से पादाभिषेक किया। सभी ने उपदेश की कामना व्यक्त की। साधु ने कहा—जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और वह मोक्ष, बन्धन के कारणभूत तन-मन-वचन का आमूल मिट जाना ही है। इसके पश्चात् जीव पुनः संसार में नहीं आता, जैसे मन्थन के पश्चात् निकला मक्खन फिर दूध में एकरूप नहीं होता। यह कहकर सन्त महामौन में लीन हो गए। सबने देखा कि मूक माटी इस घटना को अनिमेष निहार रही है।

रूपक का निर्वहण—एक पदार्थ में पर पदार्थ का रूप देखना या मानना रूपक है। शब्द वाक्य या वाक्यावलि में रूपक का निर्वाह सहज होता है, परन्तु समूचे प्रबन्ध काव्य में इसका निभाया जाना दुष्कर होता है तब तो और भी दुष्कर होता है जबकि कथानक वृहत् हो और उस पर भी अध्यायपरक जैसा कि उपर्युक्त कथानक से ज्ञात होता है।

मूकमाटी ऐसा ही एक अध्यात्मपूर्ण रूपक महाकाव्य है, जिसमें माटी के मंगल कलश रूप में चरम विकास की कथा वर्णित है। कथा का प्रारम्भ सरिता तट पर निशावसान तथा उषागमन के समय युगयुगों से पतिता माटी के उद्धारार्थ ज्ञानोद्भास से होता है। सरिता संसार का प्रतीक है। माटी रूप आत्मा अनादि काल से कर्मपुद्गलों से आबद्ध है। निशा अज्ञान और उषा ज्ञान के प्रतीक हैं। जब भव्यात्मा में अज्ञान का उपशम या क्षय होता है और ज्ञान की किरणें, प्रकाश फैलाने लगती है तो उसमें मुक्ति की कामना जागृत होती है। माटी रूप आत्मा में यही भाव जगा है।

वह धरती मां से अपनी पर्याय से मुक्ति का साधन पूछती है। यहाँ धरती अन्तश्चेतना है, जो माटी रूप आत्मा को समझाती हुई प्रतिसत्ता के प्रतिकूल शाश्वत सत्ता को उद्भासित-ज्ञानोद्बुद्ध-करने के लिए कहती है और इसके लिए सर्वप्रथम आस्था अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपदेश देती है। इसके पश्चात् ही ज्ञान सम्यक् होता है। इससे साधक के मन में स्वरातीत अनहद नाद गूंजता है अर्थात् आत्मा स्वरूप को पहचानती हैं। यही सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मुक्ति का साधन बतलाती

है। आचार्य उमास्वामी मोक्षशास्त्र में लिखते हैं—**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**

इस प्रसंग में धरती रूपी अन्तश्चेतना का उद्बोधन बड़ा ही तत्वगर्भित है। साधक को गुरुतम के ज्ञान के लिए लघुतम बनना होता है। सत्यावधान रूप आस्था अर्थात् सम्यग्दर्शन के अभाव में बोध लुप्त हो जाता है और कषाऐं-क्रोध मान, माया और लोभ—भड़कने लगती है अतः आस्था की दृढ़ता के लिए प्रति-चार, अनाचार, रागद्वेष एवं कषायों का त्याग कर तथा दमी-यमी बनकर उत्साह के साथ सत्पथ पर चलना होता है तभी आत्मविकास संभव है।

धरती रूप, अन्तश्चेतना के सम्बोधन से माटी रूप आत्मा को प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन, विकृति और कलुष के संकुलन, कर्मों के संश्लेषण और स्व-पर के विश्लेषण का रूप स्पष्ट हो जाता है। यह तभी होता है जब आत्मा में ममता समता में परिणत हो जाती है।

जब आत्मा के भावों में यह परिणति आती है, तभी वह गुरु की शरण में आती है। इस कथानक में गुरु कुम्भकार है। वह स्थिरप्रज्ञ, अविकल्पी, हित मितभाषी तथा उदासीन है, मान को मार चुका है। वह माटी रूप आत्मा की ऊपरी परत हटाता है अर्थात् अज्ञान की प्रथम परत दूर करता है। कुम्भकार मिट्टी को साधना मार्ग रूप गदहे पर लाद कर अपनी योगशाला रूप धर्मस्थली में लाया, उसे विवेक रूप छलनी से छाना तथा कँकड़ रूप विभावों-रागद्वेष-मोहादि-को पृथक् किया। इस प्रकार मिट्टी रूप आत्मा को शुद्ध करके कूप अर्थात् आत्म गहराई से जल निकालने के लिए कुम्भकार रूप गुरु ने ज्यों ही उलझन रूप रस्सी की ग्रंथियों को खोला तो उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके लिए प्रथम स्वयं निग्रंथ स्थिति ग्रहण करनी पड़ी। उसने कूप रूप स्वीय अन्तरात्मा से जलरूप अनुकम्पा को उद्भावित किया। इस प्रक्रिया में उसने मछली रूप एक अन्य भव्यात्मा को जलसमाधि रूप संलेखना दिलाई।

प्रातः हुआ और कुम्भकार ने मिट्टी को साना कि कुदाली से विक्षतांग काँटा प्रतिशोध के लिए उद्यत हुआ। मिट्टी ने उसे समझाया। यहाँ काँटा अहंकार का प्रतीक है और मिट्टी की बोधनवृत्ति विनय की। इस स्थिति तक मिट्टी रूप साधक में इतना आत्म विकास हो गया है कि कुंभकार रूप गुरू के द्वारा साधना को कठोर करने पर वह गुरू के समक्ष संसार का स्वरूप निरूपित करता है। यहाँ पर शिशिर, वसन्तान्त और निदाघ ऋतुओं के वर्णन मिष साधना काल के विविध परीषह आयामों का अंकन किया गया है।

तदनन्तर वर्षा ऋतु का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है किन्तु अध्यात्म पक्ष में जलधि, चन्द्र, बदली, बादल, राहु रूप विभावों तथा उत्पातों और सूर्य, धरती, बड़वाग्नि, इन्द्रधनुष तथा पवन रूप भावों तथा सदाचार वृत्तियों का द्वंद्व-युद्ध रहस्यात्मक होता हुआ भी अत्यन्त रूचिकर है । यह सब अनासक्त गुरु और साधक के ऊपर परीषह और उपसर्गों का निरुपण है। माटी रूप आत्मा कुम्भ रूप प्रवुद्धावस्था में पहुंच चुकी है अतः वह उदासीन गुरु कुम्भकार से कहता है—मान्यवर ! परीषह उपसर्गों के विना स्वर्ग अपवर्ग की उपलब्धि नहीं होती। इससे गुरु समझ गया कि शिष्य में ज्ञान वृद्धि पर है उसने उसे अग्निधर अर्थात् तपोमार्ग पर चलने के लिए सचेत किया।

कुम्भकार रूप गुरु ने कुंभ रूप ज्ञानोनन्त आत्मा को तपाने के लिए अवा बनाया और उसने लकड़ियां चिन दी। यहाँ अवा कर्माश्रव को रोकने तथा बन्ध को खोलने के लिए संवर एवं निर्जरा का वलय है, अव में प्रज्ज्वलित अग्नि तप है "तपसा च निर्जरा",अर्थात् तप से निर्जरा होती है। कुम्भ भी अग्नि से तपता है तभी मांगलिक और मूल्यवान वनता है। कुम्भकार रूप गुरु जब अवा खोलता है तो कुम्भ रूप प्रवुद्ध आत्मा को परिपक्व देखकर प्रसन्न होता है। उधर जीवात्मा को भी ज्ञान परिपक्व हो जाने पर आनन्द का अनुभव हुआ और कामना की कि मैं किसी साधु के पादाभिषेक का कारण वनूं।

कुम्भ रूप जीवात्मा को साधन मिलता है। यहाँ पर सेठ रूप श्रावक द्वारा कुम्भकार से उसे ग्रहण करने, साधू का सेठ के घर आहारार्थ आने, विधिपूर्वक आहार करने, उनके चले जाने, कुम्भ का सम्मान होने, स्वर्ण कलश में पुनः ईर्ष्या जागने और आतंकवादियों को भड़काकर उनसे आक्रमण कराने, सेठ के पलायन करने, नदी में अनेक उपसर्गों के आने तथा अन्त में नदी पार होकर वीतरागी के चरणों का कलश जल से अभिषेक करने तक की कथा पूर्वानुसार भाव-विभावों के घात -प्रतिघात और उपसर्ग एवं परीषहों के उत्पात की कथा है। यही स्थिति है जब माटी रूप परिष्कृत आत्मा पक्व कुम्भ रूप महान ज्ञानी के रूप को प्राप्त कर लेती है और पुनः वीतरागी के चरणों में समर्पित होकर मुक्त हो जाती है।

इस प्रकार समूचे काव्य में रूपक इस प्रकार ग्रथित है, जिस प्रकार मुक्त-आत्मा में सूत्र। कथा का विस्तार अन्तिम खंड में कुछ लम्बायमान सा भाषित होता है परन्तु भासता मात्र है, वास्तव में है नहीं, क्योंकि कथा में कवि आत्मविकास की प्रक्रिया में भाव-विभावों में आने वाले सभी पक्षों को समाहित करना चाहता है और वह भी ऐसी शैली में, जिसमें न प्रवाह मन्द पड़े और न अप्रासंगिकता आवे। वास्तव में समस्त काव्य में कथा के माध्यम से मुमुक्षु आत्मा के विकास

की चौदह स्थितियों का अंकन है, जिन्हें जैनदर्शन में 'गुण-स्थान' कहते हैं।

इस रूपक में समाजवाद और आतंकवाद का वर्णन आधुनिक प्रभाव को व्यक्त करता है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन से तात्पर्य जीवाजीवादि तत्त्वों के सम्यक् श्रद्धान से है। तदनन्तर ही परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञानों में सम्यक्त्व आता है और तभी आत्मा स्व-पर का भेद जान आत्म-गुणों में रमण करता है।

आत्म विकास की उत्तरोत्तर चौदह श्रेणियां है, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। सम्यक् श्रद्धान के साथ ही सम्यग्दृष्टि का उद्भाव होता है, जिससे मिथ्या भावों की तीन स्थितियां 1. पूर्ण मिथ्यात्व, 2. सम्यग्दृष्टि संस्कार समन्वित मिथ्यात्व तथा 3. मिथ्याभाव मिश्रित सम्यग्भाव की झलक—नष्ट हो जाती है और आत्मा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ को मारकर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह पापों से विरत होने की भावना करने लगती है। यह चौथी स्थिति है। पुनः अप्रत्याख्यानी क्रोधादि कषायों का विनाश कर पांचवी स्थिति को ग्रहण करती है और वह उपर्युक्त पापों से अणु (लघु) रूप में विरत होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रतों का एक देश रूप में पालन करने लगती है। यह श्रावक की स्थिति है।

छठवीं श्रेणी से अट्ठाईस मूल गुणों से युक्त साधु चर्या प्रारम्भ होती है जो प्रत्याखानी कषायों को मारने से उपलब्ध होती है। इसमें अहिंसादि व्रतों का पालन तो करता है परन्तु प्रमाद की संभावना रहती है। सातवी श्रेणी में संज्वलन क्रोध नष्ट हो जाता है, जिससे उसमें प्रमाद का अभाव हो जाता है, समन्वय और सामंजस्य की भावना उद्गत हो जाती है, जिससे सभी मित्र दृष्टिगोचर होते हैं, शत्रु कोई नही। आठवें स्थान में संज्वलन मान को मारने से विनय-नम्रता के भाव जाग्रत हो जाते हैं। नवमे में पहुंचते ही माया विचलित हो जाती है जिससे ऋजुता आ जाती है, छल-कपट और दम्भ के भाव पलायित हो जाते हैं। अग्रिम दो स्थितियाँ ऐसी हैं, जिनमें प्रथम संज्वलन लोभ सूक्ष्म होता है, पुनः उपशमित होता है। ग्यारहवी स्थिति वाला पुनः मिथ्यात्व की की ओर मुड़ता है परन्तु बारहवी वाला कषायों के पूर्णतः नष्ट हो जाने से वीतरागी हो जाता है और पुनः घातक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—को नष्ट कर अट्ठारह दोषों से रहित अरिहन्त पद की तेरहवी स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अन्त मे अन्तिम शुक्ल ध्यान में लीन चौदहवी स्थिति मे आयु कर्म के साथ नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का विनाश कर संसार से मुक्त हो जाता है।

इस आत्म विकास की प्रक्रिया में संवर और निर्जरा के साधनों का उपयोग करना पड़ता है अर्थात् पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावनाऐं बाईस परीपहों पर विजय, पाँच चारित्र और तपों द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आना रोककर आत्म प्रदेशों से बंधे हुए पूर्व कर्मों का विनाश करना पड़ता है, तभी आत्मा कर्मों से मुक्त हो मुक्त कहलाती है।

इस कथा में माटी रूप आत्मा के पूर्ण विकास में जैन अध्यात्म की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया रमी हुई है। इस विकास में अनेक बाधाऐं आती हैं तथा परीपह और उपसर्गों को सहना पड़ता है। वह सब कुछ प्रथम माटी रूप और पुन: कुम्भ रूप जीवात्मा के साथ तथा उसके उद्धारक कुम्भकार रूप गुरु के साथ घटित हुआ है। परन्तु अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म का पालन करते हुए उन्होंने उन पर विजय प्राप्त की है।

कवि ने काव्य में स्थान-स्थान पर विभिन्न पात्रों के माध्यम से उपर्युक्त अध्यात्म विषयों को इतनी आलंकारिक कलित शब्दावलि में अंकित किया है कि काव्य-सौष्ठव के मिश्रण से वे रुचिकर और सुपाच्य हो गये है। वास्तव में अध्यात्म योगी सन्त कवि की मानो यह अपनी ही गाथा है तभी काव्य का प्रवाह वक्र या खण्डित न हो सहज और अजस्त्र बहा है।

काव्य-सौन्दर्य—अनेक आचार्यों ने काव्य की विभिन्न परिभाषायें की हैं, यथा-रसमय वाक्य काव्य होता है, ध्वनिवत् वाक्य काव्य होता है--या ऐसे शब्दार्थ काव्य होते हैं, जो दोष मुक्त हों, गुण युक्त हों तथा प्राय: सालंकार हों इत्यादि। इस काव्य में गुणवत्ता भी है, निर्दोषता भी; रसवत्ता भी है और अलंकार भी। व्यंजना-सौन्दर्य तो समस्त काव्य में स्वयं ही मुखर है। इस काव्य-सौन्दर्य का हम अत्यन्त संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं क्योंकि इस विशाल काव्य में इतने उदाहरण विद्यमान हैं कि यदि विस्तार से लिखा जाये तो वह स्वयं एक ग्रन्थ बन जाय।

इसमें प्रसाद गुण तो सर्वत्र ही व्याप्त है। माधुर्य और ओज की कुछ पंक्तियां यहां उल्लिखित हैं। निम्न पंक्तियों में माधुर्य की मुखरता द्रष्टव्य है—

प्रकृति के साथ
मलिन मन, कलित तन
बात करता बात है।
कल कोमल कामाली
लता लतिकाऐं
शिशिर छुवन से पीली पड़ती थी
पूरी जल जात हैं।

राहु-स्वीकृति हेतु सागर से निर्यात रत्नों की छटा और उनके वर्णन में मृदुलता और मधुरता विसर्गतः साकार हो गई हैं—

ऐसी हंसती धवलिम हंसियां
मनहर हीरक मौलिक मणियां,
मुक्ता, मूंगा, माणिक छवियां
पुखराजों की पीलिम पटियां
राजाओं में राग उभरता
नीलम के नग रजतिम छड़ियां।

इसी प्रकार अनेक स्थानों पर वीर, भयानक और वीभत्स प्रसंगों में ओज का अंकन भी उद्दाम रूप में बिखरा पड़ा है। गड़गड़ाते बादलों के नभमण्डल में आगमन का एक दृश्य दर्शनीय है—

कठोर कर्कश कर्णकटु
शब्दों की मार सुन
दशों दिशाएं बधिर हो गईं
नभमण्डल निस्तेज हुआ
फैले बादल दलों में डूब-सा गया
अवगाह प्रदाता अवगाहित सा हो गया।

गुणों के साथ-साथ काव्य में अदोषता भी सौन्दर्य का हेतु होती है। इस काव्य में मुक्त छन्द का व्यवहार हुआ है किन्तु आधुनिक काव्य के विपरीत इसमें कहीं भी स्वर, ताल और लय का अभाव नहीं है। सर्वत्र काव्य गुणों की संप्रेषणीयता विद्यमान है। छन्द में गति है, प्रवाह है और है मसृणता। सभी रसों, ऋतुओं और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन तथा यहां तक कि कथानक में अध्यात्म के संश्लेषण में दोष दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि छन्दोबद्ध काव्य में अनेक दोष स्वयं ही सिर उभारने लगते हैं, जैसे—शब्दालंकार के दोष, छन्दोभंग के दोष आदि। परन्तु यह मुक्तछन्द महाकाव्य होने के कारण इन दोषों से मुक्त है। व्याकरण दोष इसलिए नहीं है क्योंकि कवि का भाषा पर ऐसा अधिकार है जैसा कि चतुर वैद्य का नाड़ी पर या कुशल खिलाड़ी का अनाड़ी पर। हां एक स्थान पर चन्द्र को धरती से दूर और भानु को निकट कहा है, जो वैज्ञानिक खोजों के प्रतिकूल है। संभवतः यह जैनागमों के अनुसार वर्णित है।

विस्तार भय से हम यहां रसों के उदाहरण नहीं दे रहे हैं। उपर्युक्त पद्यों से शृंगार, वीर और भयानक रसों का कुछ आभास हमें मिल रहा है।

हाँ कवि की ज्ञानगरिमा, शब्दों की पकड़, व्यंजना शक्ति तथा सहज अभिव्यक्तिकरण की क्षमता और रमणीयता प्रदर्शित करने के लिए एक प्रसंग की कतिपय पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ हम संवृत नहीं कर सकते। ग्रीष्म की तपन से पदार्थों के विनाश का प्रसंग है—

नील नीर की झील
नाली नदियाँ ये
अनन्त सलिला भी
अन्तः सलिला हो
अन्त सलिला हुई हैं।
....

हरिता हरी वह किसके
हरि की हरिता फिर
किस काम की रही?
लचकती लतिका की मृदुता
पत्र फलों की मधुता
किधर गई सब ये?
....

वह राग कहाँ, पराग कहाँ
चेतना की वह जाग कहाँ?
वह महक नहीं, चहक नहीं,
वह ग्रास नहीं, वह गहक नहीं
वह 'वि' कहाँ, वह कवि कहाँ
मंजु किरणधर वह रवि कहाँ?
वह अंग कहाँ, वह रंग कहाँ
अनंग का वह व्यंग्य कहाँ?
वह हाव नहीं, वह भाव नहीं
चेतना की छवि-छाँव नहीं,
यहाँ चल रही है केवल
तपन'''तपन'''तपन।

कवि ने इस समस्त काव्य में शब्दों का गुम्फन मणि-काँचन-खचन की भाँति किया है। अनेक रेखाचित्र, तैल चित्र और भित्तिचित्र स्वयं ही उभर कर स्वच्छ निष्कलंक परिधान में खड़े से दृष्टिगोचर होते हैं। अनेक स्थलों पर तो ऐसे मनोहारी प्रसंग और शब्दों के साथ ऐसी अठखेलियाँ हैं कि मन करता है कवि का हाथ चूम लिया

जाय; मस्तक इसलिए नहीं क्योंकि सन्त होने से पज्यपाद है। अनुलोमार्थ शब्दों का व्यवहार तो निष्णात कवि कुशलतापूर्वक करता ही है, किन्तु यहाँ तो शब्दों के विलोमार्थ भी इतने सटीक हैं कि हृदय हिल्लोलित हो जाता है, यथा—दया/याद, राही / हीरा, राख / खरा, नदी / दीन, मान / नमा (नम्र) आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ शब्दों की व्युपत्ति इस प्रकार की गई है या फिर तोड़ कर ऐसे भाव व्यक्त किए गए हैं कि मन चमत्कृत होता है, जैसे—कुंभकार—कु=पृथ्वी+भ=भाग्य+कार=विधाता, गदहा—गद=पाप+हा=हन्ता, कृपाण—कृपा+ण (न), मैं दोगला—मैं+दोगला, मैं गला दो, नारी—न+अरी (अरि) अर्थात् जिसका कोई अरि न हो या जो किसी की अरि न हो, महिला=मंगलमय, अबला—अब=ज्ञानज्योति को+ला=लाने वाली अथवा अ=न+बला, स्त्री—स=सहित+त्री (त्रि)=तीन पुरुषार्थों धर्म, अर्थ और काम—के सहित, माता=प्रमाता होने से, सुता—सु=अच्छाई का+ता=भाव इत्यादि स्त्री पर्यायवाची शब्दों की इन व्युत्पत्तियों से मातृजाति के लिए आदरभाव भी व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार कुछ अंकों से भी लोक प्रचलित भावों को प्रकट किया गया है—९९ से संसार चक्र, ६३ से सामंजस्य और ३६ से वैमनस्य आदि।

इसमें अनेक जैन और बौद्ध मंत्र वाक्यों का उल्लेख भी प्रसंगवश इस प्रकार हुआ है कि वे बलात थोपे से प्रतीत नही होते, जैसे 'णमोकारमंत्र' 'खम्मामि खम्मन्तु मे', 'धम्मं सरणं गच्छामि', 'धम्मो दया विसुद्धो' आदि। आधुनिक काल पर व्यंग्य करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाक्य को' वसुएव कुटुम्बकम्' कहा गया है।

लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग अलंकृत भाषा में सहज ही होता है। इस काव्य में भी इनका व्यवहार अत्यन्त मनोहारी रूप में हुआ है। मुख पर ताला पड़ना, नाड़ी ढीली पड़ना, बेल कड़वी और नीम चढ़ी, भीतिबिना प्रीति नहीं, क्षीर-नीर-विवेक, गागर में सागर, बिन मांगे मोती मिले; मांगे मिले न भीख, तरवार के अभाव में म्यान का मूल्य ही क्या तथा पूत का लक्षण पालने में—आदि अनेक लोकोक्ति एवं मुहावरों ने इस काव्य में चार चाँद लगा दिए हैं।

समूचे काव्य में अलंकार तो इतने भरे पड़े हैं कि लगता है मानो मुक्तामणि माणिक्यादि रत्नजटित स्वर्ण-रजत के अलंकारों से सुसज्जित कोई सर्वांग सुन्दर पुरुष ही अपने कलेवर की छटा छिटका रहा है। स्थान-स्थान पर प्रसंगवश पात्रों के माध्यम से धर्म के अंगों, जीवनादर्शों तथा नीति वाक्यों को व्याख्यात किया गया है और यह सब कवि के हृदय से सहज प्रस्फुटित सा जान पड़ता है।

(शेष पृष्ठ 34 पर)

महावीर का धर्म-दर्शन : आज के सन्दर्भ में

—वीरेन्द्र कुमार जैन, बम्बई

यह महज इत्तिफाक नही, बल्कि एक बुनियादी हक़ीक़त है कि महावीर का धर्म-दर्शन आज के सन्दर्भ में सौ फीसदी घटित होता है। इसकी वजह यह है कि जैन द्रष्टाओ ने सत्ता की जो परिभाषा प्रस्तुत की हे, उसमें चीजों की प्रतिक्षण की गतिविधि और प्रगति अत्यन्त अप-टू-डेट तरीके से समाहित हो जाती हे। उन्होंने कहा है कि 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्वं।' यानी सत्ता एकबारगी ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हे। अर्थात् उसमें प्रतिक्षण कुछ उत्पन्न हो रहा है, कुछ मिट रहा है, और कुछ है, जो सदा एक-सा, कायम रहता है। प्रतिक्षण जो उठ और मिट रहा है, वह पर्याय है, यानी चीजों का रूप है, और जो सदा एक-सी कायम यानी ध्रुव है, वह चीजों का सत् है, अर्थात् सारांश है। मतलब यह हुआ कि गति और स्थिति के संयुक्त रूप को ही सत्ता कहते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि जैन-दर्शन ने वस्तु की हर क्षण की नित-नयी गति-प्रगति को सत्य के रूप मे स्वीकृति दी है। उसे महज मिथ्या-माया या प्रपंच कह कर टाला नही है। ठीक विज्ञान की तरह ही जैन दर्शन ने इस विश्व की तद्गत वास्तविकता यानी 'आवजेक्टिव रियालिटी' को स्वीकार किया है। नतीजे मे यह हाथ आता है, कि जैनधर्म यथार्थवादी है, वास्तविकता-वादी है, वह कोरा आदर्शवादी नही है। जीवन से कटे हुए कोरे ऊर्ध्वमुख आदर्शवाद का इन्कार और ठोस यथार्थवादी जीवन-जगत की स्वीकृति आज के युग की एक लाक्षणिक विशेपता है। और यह विशेपता जैन-धर्म में, सत्ता की मूल परिभाषा मे ही उपलब्ध हो जाती है।

दूसरी आधुनिक विशेपता, जो जैनधर्म मे मिलती है, वह है वस्तु के साथ व्यक्ति का एक यथार्थवादी सम्बन्ध। चीजें ठीक जैसी हैं उन्हें ठीक वैसी ही देखने-जानने को जैन द्रष्टाओं ने सम्यक् दर्शन कहा है। मतलव यह हुआ कि चीजों के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण ही सम्यक् दर्शन है। जैनी मानता है कि चीज़ों या व्यक्तियों को देखकर, या

उनसे सम्बन्धित होकर रागात्मक भाव हमारे मन में उदय होता है, उसी से चीजों का मूल्य नहीं आँकना चाहिए। यानी चीजों पर अपने भाव या राग को आरोपित करके उन्हें न देखो। वे असलियत में अपने आप जैसी हैं, वैसी ही उन्हें वीतराग भाव से देखो। चीज़ों पर अपने को लादो नहीं। तुम स्वयं अपने में रहो, चीज़ों को स्वयं अपने में रहने दो। स्वयं अपने स्वभाव में रहो, चीज़ों को अपने स्वभाव में रहने दो। इसी तरह उनसे सरोकार करो, इसी तरह उनसे वर्ताव करो। यानी हमारा दृष्टिकोण चीजों के प्रति वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' हो, आत्म-लक्ष्यी या 'सब्जेक्टिव' न हो। इस प्रकार हमने यह देखा कि आज के युग की एक और सबसे बड़ी विशेषता वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण है, और वही जैन तत्त्वज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है। आधुनिक बुद्धिवाद और विज्ञान इसी दृष्टिकोण के ज्वलन्त परिणाम हैं।

जैन तत्वज्ञान को सावधानीपूर्वक समझने पर पता चलता है, कि उसमें जीवन-जगत का इनकार नहीं, वल्कि सहज स्वीकार है। जीवन-जगत् जैनी के लिए एक ठोस वास्तविकता है, और उसमें जीने वाले मनुष्य या प्राणी का आत्मा भी एक ठोस वास्तविकता है सो उनके वीच का सम्वन्ध भी एक ठोस वास्तविकता है। इस वास्तविकता को सही-सही देखकर, सही-सही जानना होगा। यानी जैन शब्दों में कहें तो हमें जगत का सम्यक् दर्शन करते हुए उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना होगा। वस्तुओं और व्यक्तियों का सही दर्शन और सही ज्ञान होने पर ही, उनके साथ का हमारा सम्बन्ध-व्यवहार, सुलूक-सरोकार सही हो सकता है। इस सही सम्बन्ध-व्यवहार को ही जैन तत्वज्ञों ने सम्यक् चारित्र कहा है।

जैन धर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति है। यह मुक्ति कैसे पाई जा सकती है? तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति के शब्दों में 'सम्यकदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' जीवन-जगत्, वस्तु-व्यक्ति को सही देखना, सही जानना, और तदनुसार उनके साथ सही व्यवहार करना—यही मोक्षमार्ग है। यानी विश्व के साथ व्यक्ति आत्मा का सम्बन्ध जब अन्तिम रूप से सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमय हो जाता है, तो अनायास ही आत्मा की मुक्ति घटित हो जाती है।

चीज़ों और व्यक्तियों के साथ जब हमारा सम्वन्ध वस्तु-लक्ष्यी और वीत-रागी न होकर, आत्मलक्ष्यी और सरागी होता है, तो वह रागात्मक तीव्रता विश्व में सर्वत्र व्याप्त सूक्ष्म भौतिक पुद्गल-परमाणुओं को आकृष्ट करके, हमारी चेतना को उनके पाश में बाँध देती है। इसी को कर्म-बन्धन कहते हैं। यानी राग और उसकी परिणति द्वेष, इन दोनों के आत्मा में घटित होने पर वस्तुओं के साथ आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध भंग हो जाता है, और उनके बीच कर्मावरण की

ओट खड़ी हो जाती है। जगत् के साथ जब मनुष्य का सम्बन्ध विशुद्ध वस्तु-लक्ष्यी यानी 'ऑब्जेक्टिव' या वीतरागी हो जाता है, इसी को जैन दृष्टाओं ने मोक्ष कहा है।

आत्मा के इस तरह मुक्त होने पर, उसके भीतर का जो मूलगत पूर्ण ज्ञान है, अर्थात् सर्व को सर्वकाल में सम्पूर्ण जानने की जो क्षमता या शक्ति है, वह प्रकट हो जाती है। इसी को केवलज्ञान कहते हैं, अर्थात् एकमेव शुद्ध, अखण्ड, प्रत्यक्ष ज्ञान। केवलज्ञान होने पर लोक के साथ मनुष्य का एक अमर, अबाध, अविनाशी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन को गहराई में समझने पर पता चलता है, कि वह जगत-जीवन से मनुष्य को तोड़ने या अलग करने वाला धर्म नहीं है। बल्कि जगत के साथ जीव का सच्चा और स्थाई नाता स्थापित करने की शिक्षा ही जैनधर्म देता है।

× × ×

महावीर के 1000 वर्ष बाद जिनवाणी के ग्रन्थ-बद्ध होने पर उसमें जो जैन धर्म का उपदेश मिलता है, उसमें प्रकटतः कठोर संयम, वैराग्य और तप की प्रधानता है। ऐसा स्पष्ट लगता है, कि जैनधर्म जीवन का विरोधी है, और उसका मोक्ष, जगत से पलायन है। इस अतिवाद को नकारा नहीं जा सकता।

यही भी स्पष्ट है, कि स्वयं महावीर दीर्घ तपस्वी थे, और उन्होंने निदारुण तपस्या का जीवन बिताया था। पर वे तो तीर्थंकर यानी युगतीर्थ के प्रवर्तक और परित्राता होकर जन्मे थे। इसी कारण चरम तपस्या के द्वारा त्रिलोक और त्रिकाल के कण-कण और जन-जन के साथ तादात्म्य स्थापित करना उनके लिए अनिवार्य था। वे स्वयं ऐसी मृत्युंजयी तपस्या करके औरों के लिए, अपने युगतीर्थ के प्राणियों के लिए, मुक्ति-मार्ग को सुगम बना गए हैं और सबको अमरत्व प्राप्ति का सहज ज्ञान-मंत्र दे गए हैं।

लेकिन वस्तुतः उत्तर कालीन जिन-शासन में जो अति निवृत्तिवाद का बोलबाला रहा, वह वैदिक धर्म के अति प्रवृतिवाद और भ्रष्टाचारी कर्म-काण्डों की प्रतिक्रिया के रूप में ही घटित हुआ है। फलतः वैराग्य, तप और जीवन-विमुखता पर बेहद जोर आ गया है। नतीजा यह हुआ कि अल्पज्ञ आम जैन श्रावक और श्रमण इस तप-संयम के बाह्याचार को ही सब कुछ मानकर उसी से चिपट गए। इस प्रवृत्ति के कारण जैन दृष्टाओं की असली, मौलिक विश्वदृष्टि लुप्त हो गयी।

यह दृष्टि हमें भगवान् कुंदकुंदाचार्य के दृष्टि-प्रधान ग्रन्थ 'समयसार' में यथार्थ रूप में उपलब्ध होती है। यह कहना शायद अत्युक्ति न होगी कि

महावीर के बाद भगवान् कुंदकुंद देव ही जिन शासन के मूर्धन्य और मौलिक प्रवक्ता हुए हैं। उनकी वाणी में आत्मानुभूति का रूपान्तरकारी रसायन प्रकट हुआ है। उन्होंने 'समयसार' में स्पष्ट सिखाया है कि वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। तुम अपने स्वभाव में रहो, वस्तु को अपने स्वभाव में रहने दो। अपने स्वभाव को ठीक-ठीक जानो और उसी में सदा अवस्थित रहकर सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान पूर्वक इस जगत् जीवन का उपभोग करो। यानी भोग का इनकार उनके यहाँ कतई नहीं है। मगर सम्यक्दृष्टि और सम्यक्ज्ञानी होकर भोगो। तब तुम्हारा भोग बन्धन और कष्ट का कारण न होगा, बल्कि मोक्षदायक और आनन्ददायक होगा।

जो चीजों का सम्यक्दर्शी और सम्यक्ज्ञानी है, वही उनका सच्चा, सम्पूर्ण या निर्बाध भोक्ता हो सकता है। ऐसा भोग क्षणिक और खण्डित नहीं होता। वह नित्य और अखण्ड भोग होता है। उसमें वियोग नहीं, पूर्ण योग है, पूर्ण मिलन हैं। कभी कुछ खोता नहीं, सब सदा को पा लिया जाता है, सबके साथ हम सदा योग और भोग में एक साथ रहते हैं। जो चीजों का मिथ्यादर्शी और मिथ्याज्ञानी है, वह उनका सच्चा और पूर्ण भोगता नहीं हो सकता। ज्ञानी वस्तुओं का स्वामी होकर उन्हें भोगता है। अज्ञानी उनका दास होकर उन्हें भोगता है। स्वामी का भोग मुक्तिदायक और आनन्ददायक होता है, दास का भोग बन्धनकारक और कष्टदायक होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म जीवन-जगत् के भोग का विरोधी नहीं। वह केवल सच्चे और अखण्ड भोग की कला सिखाता है। आज का मनुष्य ऐसे अखण्ड और नित्य भोग के लिए ही तो छटपटा रहा है। अति भोगवादी पश्चिमी जगत अब क्षणिक और खण्ड भोग से ऊब गया है, थक गया है, विरक्त तक हो गया है। वह भोग छोड़ने को तैयार नहीं, मगर उसे अचूक और पूर्ण तृप्तिदायक नित-नव्य भोग की तलाश हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' में उसी सच्चे सार्थक और पूर्ण तृप्तिदायक भोग की शिक्षा दी है। आज के भोग से ऊबे हुए, फिर भी परम भोग के अभिलाषी मनुष्य के लिए 'समयसार' एक चिन्तामणि जीवन-कुंजी है।

परा पूर्वकाल में राजर्षि भरत चक्रवर्ती और जनक ऐसे ही परम भोक्ता योगीश्वर हुए हैं। वे जगत् के विषयानन्द में भी बेहिचक उन्मुक्त तैरते हुए पूर्ण आत्मानंद में मगन रहते थे। जैनधर्म ने ही नहीं, प्रथमतः और अन्ततः पूरे भारतीय प्राक्तन् धर्म ने यही शिक्षा दी है। बीच के ऐतिहासिक चक्रावर्तनों के कारण जो अतिवादी और प्रतिक्रियाग्रस्त वैराग्यवाद का प्रभुत्व हुआ, उससे भारतीय धर्म का मर्म ही लुप्त हो गया। आज के भारतीय जैन योगियों, चिन्तकों और मनीषियों का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि हमारे धर्म के मर्म की सच्ची पहचान

वे आज के जगत के समक्ष प्रकट करें, और इस युग की भटकी हुई विपथगामी मानवता को सही दिशा-दर्शन प्रदान करें।

महावीर ने कहा है कि वस्तु मात्र अनैकान्तिक है। यानी उसमें अनन्त गुण, धर्म, पर्याय एक साथ विद्यमान हैं। इसलिए वस्तु के अलग-अलग पहलुओं को अनैकान्तिक नज़रिए से देखना चाहिए। वस्तु प्रतिक्षण गतिमान, प्रगतिमान और परिणमनशील है। उसमें प्रतिपल नये रूप, भाव और परिणाम पैदा हो रहे हैं, इसलिए कभी भी वस्तु के बारे में अन्तिम कथन नहीं करना चाहिए। अपेक्षा के साथ ही, वस्तु के एक गुण, धर्म, भाव रूप विशेष का कथन करना चाहिए। वस्तु अनैकान्तिक है, तो उसका सच्चा दर्शन-ज्ञान भी ऐकान्तिक नहीं, अनैकान्तिक ही हो सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि अनेकान्त दृष्टि ही जैनधर्म की आधार-भूत चट्टान है।

आज का मनुष्य भी किसी अन्तिम कथन, या अन्तिम धर्मादेश का कायल नहीं। वह हर तरह की धार्मिक कट्टरवादिता से नफरत करता है। वह 'डायनामिक' यानी गतिशील है, और जीवन-जगत के गति-प्रगतिशील नजरिये को ही पसंद करता है। जैनधर्म का अनेकान्त आधुनिक मानव-चेतना के उस 'डायनामिज्म' यानी गत्यात्मकता का सर्वोपरि दिग्दर्शक और समर्थक है।

अनैकान्तिक वस्तु स्वभाव का सही दर्शन-ज्ञान पाकर, वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ सही सम्बन्ध में जीवन जीने की कला सिखाने के लिए ही जैन द्रष्टाओं ने सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के आचार-धर्म का विधान किया है। सत्य यानी यह कि हम चीजों को सत्य देखें, जानें और सत्य ही कहें। अहिंसा यानी यह कि हर चीज को अस्तित्व में निर्बाध और सुरक्षित रहने का अधिकार है। हम परस्पर एक-दूसरे को बाधा या हानि न पहुंचायें हम खुद जिस तरह सुख-शान्ति से जीना चाहते हैं, उसी तरह औरों को भी सुख-शान्ति में जीने दें। यानी सह-अस्तित्व जीवन की शर्त है। अचौर्य यानी यह कि सब वस्तुओं पर सबका समान अधिकार है और वस्तु मात्र अपने आप में स्वतन्त्र है। परस्पर एक-दूसरे के कल्याणार्थ हम वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ विनियोग-व्यवहार करें। वस्तु-सम्पदा पर अधिकार करना ही चोरी है। जीवन जगत् की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, कि वस्तुमात्र सबकी सम्पत्ति रहे, और आवश्यकतानुसार सबको सब कुछ प्राप्त हो। सम्पत्तिवाद, पूंजीवाद, अधिनायकवाद आदि आज की सारी व्यवस्थाएं चोरी पर टिकी हुई हैं। अचौर्य की व्यवस्था लाने के लिए ही आज की सारी प्रजाएं समाजवाद की पुकार उठा रही हैं। जैनधर्म के सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त में आगामी सच्चे और स्थाई

समाजवाद की कुंजी छुपी है ।

अपरिग्रह का अर्थ है कि मोह-मूर्च्छा में पड़कर, वस्तुओं और व्यक्तियों पर अधिकार न जमाया जाए। मनुष्य, मनुष्य और वस्तुओं के स्वभावगत स्वतन्त्र परिणमन को पहचाने, और स्वयं भी स्वतन्त्र रहे तथा औरो की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। परिग्रह यानी प्रमादवश चीजों के अधीन होना और उन्हें अपने अधीन रखना। यह बन्धक और कष्टदायक है। परिग्रही वृत्ति से ही सम्पत्तिवाद, पूँजीवाद, सत्तावाद जन्मे है। परिग्रह को ही जिनेश्वरों ने सबसे बड़ा पाप कहा है। जिनेश्वरों के धर्म-शासन में पूँजीवाद और अधिनायकवाद को स्थान नहीं। स्वतन्त्र मानववाद और सर्वकल्याणकारी समाजवाद ही जिनेश्वरों के अनुसार सच्ची और मोक्षदायक जीवन-व्यवस्था हो सकती है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, अपनी आत्मा में ही निरन्तर रमण करने और भोग करने की स्वाधीन सत्ता प्राप्त कर लेना। नर-नारी के योन-भोग और काम-भोग तन, मन, प्राण, इंदियों के स्तर पर सर्वथा स्वाभाविक हैं और जायज हैं, पर आत्मा परम स्वतंत्र है। बाहर के भोग-रमण में रहते हुए भी, वह अपनी तृप्ति के लिए, इनकी गुलामी न स्वीकारे। हर नर-नारी के भीतर नर और नारी दोनों है। अपने ही भीतर बैठे रमण या रमणी को पहचान कर पा लेने पर, बाहर रमण करते हुए भी, हम एक-दूसरे के गुलाम या बन्धक होकर न रहें। अपने-अपने आत्म में स्वतन्त्र, निर्मोह, अबाध विचरे। इस प्रकार ब्रह्मचर्य ही वीतरागी, आत्मरसलीन पूर्ण भोक्ता होने की परम रसवन्ती कला सिखता है।

इस तरह आप देखेंगे कि जैनों का पंच अणुवती या महाव्रती आचार-मार्ग जीवन से पलायन करने या उसका विरोध करने की शिक्षा नहीं देता। वह जीवन जगत के पूर्ण भोक्ता और स्वाधीन स्वामी होने की पराविद्या हमें सिखाता है। क्या आज का मनुष्य, ऐसी ही किसी पराविद्या की खोज में नहीं भटक रहा? ये पथ-भ्रष्ट दीखने वाले, स्वैराचारी, स्वच्छन्दविहारी 'हिप्पी' वैभव और सुरक्षा की गोद को ठुकराकर उसी पराविद्या की खोज में निकल पड़े हैं। वे अंधेरे में भटक रहे हैं बेशक, मगर सच पूछो तो वे अनजाने ही परम लक्ष्य से चालित हैं, यानी वे मनुष्य की असली स्वतन्त्रता के मुतलाशी है। जैनधर्म के अनुसार वे स्वभावतः अपनी मंजिल पर पहुंचेंगे ही। क्योंकि मंजिल आखिर तो अपनी आत्मा ही है। और अपनी आत्मा से बिछुड़ कर आदमी कब तक भटकता रह सकता है? आखिर पराकाष्ठा तक भटक कर, वह अपने घर लौटेगा ही। इसी कारण जिनेश्वरों ने पाप को हौवा नहीं बनाया है। पाप के भय को उन्होंने मूल में ही काट दिया है। यानी आत्मा पाप कर ही नहीं सकता, वह उसका स्वभाव

नहीं। पाप है केवल अज्ञान। सही ज्ञान हो जाने पर आदमी आपो आप ही सही आचरण करता है। तब वह अनायास ही पाप से ऊपर उठकर, आत्मा का सज्ञान, निष्पाप जीवन जीता है।

× × ×

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म का ज्ञानमार्ग भी विश्लेषण-प्रधान है। इसी कारण यह कहा जा सकता है, कि संसार के सभी जीवित धर्मों में जैन धर्म ही सबसे अधिक वैज्ञानिक है। उसका जीव-शास्त्र और कर्म-शास्त्र इसके ज्वलन्त प्रमाण है। इतना अधिक वैज्ञानिक और तार्किक है जैनधर्म, कि मनुष्य की भावचेतना को तृप्त करने में समर्थ नहीं हो पाता। अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वरीय शक्ति का इनकार करके जैनधर्म ने भक्तिभाव के आधार को ही खत्म कर दिया। पर अपनी इस अतिवैज्ञानिकता और बुद्धिवादिता के कारण ही, वह आज के विज्ञानचेता मनुष्य को बहुत अपील करता है।

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म मनुष्य को स्वतन्त्रता देता है, कि वह किसी पूर्व मान्यता और अन्धश्रद्धा से विश्व-तत्त्व का निर्णय न करे। अपनी स्वतन्त्र तार्किक पूछ-ताछ, और वस्तु के अणु-प्रति-अणु तार्किक विश्लेषण द्वारा ही विश्व-तत्त्व की जांच-पड़ताल करे, और उसका स्वतन्त्र ज्ञानत्मक साक्षात्कार करे। यह ध्यातव्य है कि हजारों वर्षों पूर्व जैन द्रष्टाओं ने जगत्-जीवन का जो अन्तर-वैज्ञानिक साक्षात्कार किया था, वह क्रमशः आज की वैज्ञानिक खोजों द्वारा अचूक प्रमाणित होता जा रहा है। इस प्रकार जैनधर्म आज के मनुष्य को वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा ही आत्मिक आस्था और अनुभूति तक ले जाना चाहता है।

× × ×

पश्चिम के दार्शनिक जगत् में आज अस्तित्ववाद का बोलबाला है। यानी अस्तित्व में जो दीखता है; वही सत्य है 'एग्ज़िस्टेन्स' में होकर 'ईसेंस' में पहुंचना है। 'ईसेंस' को पूर्व मान्य करके 'एग्जिस्टेंस' का फैसला नहीं करना है। जैनों के यहां बारह अनुप्रेक्षा या भावना के द्वारा जो अस्तित्व और आत्मा का चिन्तन किया गया है, उसमें आज का अस्तित्ववाद सर्वांगीण अभिव्यक्ति पा जाता है। अनुप्रेक्षण बताता है कि मनुष्य की स्थिति यहां नित्य, अशरण, एकाकी हैं। वह अकेला है। अन्ततः हम सब एक-दूसरे को अन्य यानी पराए हैं। शरीर अन्ततः विनाशी और ग्लानिजनक तत्त्वों से भरा है।

अतः आत्मा की मुक्ति के लिए आवश्यक है, कि अनिष्ट बाहरी पुद्गल पर-

माणुओं को हमारे अस्तित्व को कर्म-बन्धन में बाँधने से रोका जाए। अपने को समेट कर अपने सच्चे स्वरूप में ही रहा जाए। इस प्रकार आत्म-संवरण द्वारा अपने में स्वाधीन हो रहने पर पुराने बँधे जड़ कर्म के बन्धन आपोआप टूट जाते हैं। तब हमारे पूर्ण ज्ञान में लोक अपने सच्चे स्वरूप में हमारे सामने प्रकट हो जाता है। उस स्थिति में मनुष्य एक मुक्त पुरुष होकर लोक का पूर्ण ज्ञानपूर्वक नित्य भोग करता है। यही मोक्ष है।

सारांश में यही जैनों का अस्तित्ववाद है, और संभवतः आज के अस्तित्ववाद दर्शन में जहां भी गत्यावरोध है, वहां जैन दृष्टि अगला सही मार्ग मुक्त कर सकती है। यह ध्यातव्य है कि कार्ल येस्पर्स आदि का आज का अतिक्रान्तिवाद (ट्रान्सेंडेंटल एग्जिस्टेंशियालिज्म) जैन-दर्शन के बहुत निकट आ जाता है।

इस तरह आप देखेंगे कि आज के युग में अस्तित्ववाद, आत्म-स्वतन्त्रवाद, सर्व-स्वतन्त्रवाद, स्वच्छन्दवाद, पूर्ण-भोगवाद, समाजवाद, गणतन्त्रवाद, परोक्ष-वादी कलावाद आदि की जो प्रमुख पुकारें मानव आत्मा में ज्वलन्त हैं, उन सबका मौलिक समाधान जिनेश्वरों के धर्म-दर्शन में समीचीन रूप से उपलब्ध है। एकतन्त्रीय पूंजीवाद और अधिनायकवाद से दुनिया को उबारकर, एक सच्चे सर्वोदयी साम्यवाद और समाजवाद में प्रतिष्ठित करने के लिए महावीर के धर्मदर्शन को नये सिरे से समझना जरूरी है।

जैनों के अनुसार तो महावीर ही हमारे युग के तीर्थंकर हैं। यानी हमारे वर्तमान युग-तीर्थ की मांगलिक परिचालना का धर्म-चक्र उन्हीं भगवान की उँगली पर घूम रहा है। एक बार एकाग्र होकर हम उस धर्म-चक्र का दर्शन करें, तो शायद है कि हमारे युग की चाल ही बदल जाए। समग्र क्रान्ति और किसे कहते हैं?

(पृष्ठ 26 का शेष)

इसमें ज्योतिष, हठयोग तथा गणित को भी यथा स्थान इस प्रकार समाविष्ट किया है कि वे भी इसके अंग/अवयव से ही प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार यह काव्य श्रेष्ठ काव्यों की श्रेणी में परिगणना के योग्य है। सैकड़ों वर्षों तक जो भी इसका अध्ययन करेंगे, वे उपन्यास या नाटक का सा आनन्द लेते हुए अध्यात्म से तो पूत होंगे ही, उनमें साहित्य रुचि भी उत्पन्न होगी, कला का निखार होगा, समाज तथा राष्ट्र के प्रति हितकर भावना पनपेगी और अन्त में उद्गत होगी —मुक्ति की मंगल कामना। □

जो तुम मोख देत नहिं हमकों, कहो जायें किहि डेरा ?

—डॉ॰ प्रेमसागर जैन, बड़ौत

जैन ग्रन्थों में भक्ति से मुक्ति वाली बात एकाधिक स्थलों पर मिलती है। जैन आचार्यों ने इसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया तो जैन कवियों ने स्थान-स्थान पर भगवान से मुक्ति की याचना की। उनकी याचना विफल हुई हो, ऐसा नहीं है। उन्हें मुक्ति मिलने का पूर्ण विश्वास था और वह पूरा हुआ। मुक्ति तो वैष्णव शैव, ईसाई, पारसी सभी भक्तों को उनके आराध्य देवों ने दी, किंतु यहां थोड़ा-सा अन्तर है। गज को ग्राह से बचाने के लिए जैसे विष्णु विष्णु-लोक से दौड़ आए, वैसे जैन भगवान नहीं दौड़ता। वह अपनी जगह से हिलता भी नहीं। इस पर एक भक्त तो विलाप करते हुए कह उठा—"जो तुम मोख देत नहिं हमको, कहो जायें किहि डेरा।" किन्तु जिनदेव पसीजे नही। एक दूसरे स्थान पर, एक दूसरे कवि ने कहा—"जगत में सौ देवन को देव। जासु चरन परसें इन्द्रादिक, होथ मुकति स्वयमेव।।" यहां भी भगवान दौड़ कर नहीं आया। भक्त स्वयं गया, चरणों का स्पर्श किया और उसे मुक्ति मिल गई। वास्तविकता यह है कि जिनेन्द्र कर्त्ता नही है, फिर वह मुक्ति देने का काम भी नहीं कर सकता, फिर भी जैन भक्त कवि उनसे मुक्ति मांगते रहे और वह उन्हें मिलती रही। कैसे ?

एक प्रश्न है, जिसका उत्तर, जैन भक्ति को जैनेत्तर भक्ति से पृथक कर देता है। इस प्रश्न पर आचार्य समन्तभद्र ने गहराई से सोचा था। उनका कथन है कि कि जैन प्रभु कुछ नहीं देता, दे नहीं सकता, क्योंकि उसमें कर्तृत्व नहीं है। फिर भी उसके पुण्य गुणों के स्मरण से मन पवित्र हो जाता है। मन के पवित्र होने का अर्थ है कि वह संसार से पराङ्मुख होकर जिनेन्द्र की ओर उन्मुख हो जाता है। दूसरी बात, मन के मुड़ते ही दुरितांजन स्वतः दूर हो जाता है। दुरितांजन ही कर्म है। उनके दूर होने का अर्थ है, कर्मों से छुटकारा। इसी को मुक्ति कहते हैं। यह सब होता है मन के पावन होने से और यह पावनता आती है जिनेन्द्र स्मरण से। भगवान कुछ नहीं देता, किन्तु उसके स्मरण-मात्र से मन

पवित्र तो होता ही है। यही है वह बात, जिससे जीव सब कुछ पा जाता है।

दूसरा प्रश्न है—जिनेन्द्र के स्मरण से मन पावन क्यों होता है? जिनेन्द्र के स्मरण का सीधा-साधा अर्थ है कि मन का जिनेन्द्र की ओर मुड़ना। मुड़ना ही मुख्य है। इसी को हठवादी तांत्रिक परम्परा में मूलाधार कुण्डलिनी का जगना कहते हैं। जब मन एक बार मुड़ गया है, जिनेन्द्र के स्मरण का आनन्द पा लिया है, तो वह बार-बार लौट कर भी पुनः पुनः मुड़ने को ललकता है। यह ललक बड़ी बात है। यही आगे चल कर मन को स्थायी रूप से मोड़ देती है। स्थायी रूप से मुड़ने का अर्थ है, जिनेन्द्र का दर्शन और तादात्म्य। इसे रहस्यवादी परम्परा में तीसरी और चौथी अवस्था कहते हैं। पहली अवस्था है मुड़ना और दूसरी दशा है बार-बार मुड़ने की ललक। एक बार जब आराध्य का दर्शन हो जाता है, तो तादात्म्य हुए बिना रहता नहीं। कबीर की बहुरिया यह कहती रही—"धनि मैली पिउ ऊजरा, किहि विधि लागूं पांय।" किन्तु उसका ऐसा सोचना चल ही रहा था कि वह पिउ से तद्रूप हो गई। जैन कवि बनारसीदास के "बालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि, अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि।" में भी यही भाव हैं। मन के आराध्य पर स्थायी रूप से टिकने के बाद वह तन्मय हुए बिना नहीं रहती। फिर, "पिय मोरे घट में पिय माहिं। जल तरंग ज्यों दुविधा नाहिं॥" से दोनों एक हो जाते हैं।

यहां, रहस्यवादी परम्परा से स्पष्ट अन्तर है। जैनाराध्य पर नहीं हैं, वह स्व ही है। जो जैनेन्द्र है वही स्वात्मा का स्वरूप है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य योगीन्द्र ने परमात्मा प्रकाश में, "जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसह देउ। तेहउ णिवसइ बंसु परू देहहं मं करि भेउ॥" कह कर आत्मा और सिद्ध का स्वरूप एक माना है। उनकी दृष्टि में सिद्ध और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक हैं। अर्थात् आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप समान है। इसी को जैन हिन्दी कवि भट्टारक शुभचन्द्र ने तत्त्वसार दूहा में, "चिद्रूपचिंता चेतन रे साक्षी परम ब्रह्म।" कवि बनारसीदास ने नाटक समय-सार में, "सोहै घट-मन्दिर में चेतन प्रकट रूप, ऐसो जिनराज ताहिवंदत बनारसी।" और भैय्या भगवती दास ने—ब्रह्मविलास में, "सिद्ध के समान हैं विराजमान चिदानन्द, ताही को निहार निज रूप मान लीजिए।" कह कर सिद्ध किया है।

तीसरा प्रश्न है कि जब तत्त्व दृष्टि से आत्मा और परमात्मा का स्वरूप अभिन्न है, दोनों एक समान है, तो कौन किसकी ओर मुड़ता है और क्यों मुड़ता है? आचार्य पूज्यपाद ने समाधितंत्र में आत्मा के तीन भेद बताये है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा वह है जो,आत्मा के स्वरूप को नहीं देख सकता, 'पर'

द्रव्य में लीन रहता है और मिथ्यावन्त है। अन्तरात्मा में आत्मा को देखने की शक्ति तो उत्पन्न हो जाती है, किन्तु वह महाव्रती नही होती। परमात्मा आत्मा का वह रूप है, जिसमें शुद्ध स्वभाव उत्पन्न हो गया है और जिसमें सब लोकालोक झलक उठे हैं। अनुभूति क्रिया में आत्मा के दो ही रूप काम करते हैं, एक तो वह जो अभी परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर सका है और दूसरा वह जो परमात्मा कहलाता है। पहला अनुभूतिकर्त्ता है और दूसरा अनुभूति तत्त्व। पहला मुड़ता है और वह लक्ष्य है, जहां उसे पहुंचना है। एक ही आत्मा के दो रूप—एक मिथ्यात्व में डूबा है, किन्तु जगकर (अन्तरात्मा होकर), दूसरे रूप—शुद्ध-विशुद्ध निरन्जन परमात्मा की ओर मुड़ता है। जीवन में वहुत मोड़ आते हैं, किन्तु आत्मा का यह मोड़ अनोखा होता है—सुहाग और ललक-भरा। प्रिय-मिलन की ललक, कौन तुलना कर सका है, उसकी। अनिवर्चनोय की पियास, जिसमें जग गई वह स्वयं अवक्तव्य हो जाता है। कौन कह सका है उसे।

कबीर की आत्मा भी ब्रह्म की ओर मुड़ी है, किन्तु थोड़ा-सा अन्तर है। कवीर ने जिस आत्मा का निरूपण किया है, वह विश्व-व्यापी ब्रह्म का खंड अंश है, जवकि जैन कवियों की आत्मा कर्ममल को धोकर स्वयं ब्रह्म वन जाती है। वह किसी अन्य का अंग नही है। उसे अपने से भिन्न किसी 'पर' के पास नही जाना होता। वह स्वयं आत्मा है और स्वयं परमात्मा। मन जव संसार की ओर मुड़ा रहता है, तव आत्मा मिथ्यावंत है, साधारण संसारी जीव है और मन जव अपने ही शुद्ध-विशुद्ध परमानन्द रूप की ओर मुड़ उठता है, तो वह पहले अन्त-रात्मा और फिर परमात्मा वन जाता है।

चौथा प्रश्न है कि जैन भक्त ऐसे भगवान के चरणों में अपने श्रद्धा-पुष्प चढ़ाता है, जो स्वयं वीतरागी है, अर्थात् राग-द्वेषों से रहित है। वीतराग होने से पूजा का उस पर प्रभाव नही पड़ता और वैर रहित होने से, निन्दा से भी वह विचलित नहीं होता। ऐसे भगवान की पूजा, भक्ति, उपासना, अर्चना आदि करने से लाभ क्या है? वह मोक्ष में बैठा है। यहां आ नही सकता। भक्त के दुख दूर नही कर सकता। फिर ऐसे वीतरागी से राग का अर्थ क्या है? फिर राग कैसा ही हो, भले ही वीतरागी में किया गया हो, कर्मों के आस्रव (आगमन) का कारण है।

इसका उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है, "पूज्य भगवान जिनेन्द्र की पूजा करते हुए, अनुराग के कारण जो लेश-मात्र पाप का उपार्जन होता है, वह बहु पुण्य राशि में उसी प्रकार दोष का कारण नही वनता, जिस प्रकार कि विष की एक कणिका, ठण्डे कल्याणकारी जल से भरे

हुए समुद्र को दूषित करने में समर्थ नही होती ।" अर्थात् जिनेन्द्र में अनुराग करने से लेश-मात्र ही सही, पाप तो होता ही है, किन्तु पुण्य इतना अधिक होता है कि वह रंच-मात्र पाप उसे दूषित करने की सामर्थ्य नही रखता । आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियों में अनुराग करने वालों को सच्चा योगी कहा है। उनका ये भी कथन है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु में प्रीति करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है। अर्थात् उनकी दृष्टि में वीतरागी में किया गया अनुराग, यत्किंचित भी पाप का कारण नही है।

वीतरागी परमात्मा 'पर' नही है, वह 'स्वः' आत्मा ही है। योगीन्द्र का कथन है, "एहु जु अप्पा परम अप्पा, कम्म विसेसें जायउ जप्पा।" परमानन्द स्वभाव वाले भगवान् जिनेन्द्र को योगीन्द्र ने परमात्मा कहा और वह ही स्वः आत्मा है, ऐसा भी कहा। उन्होंने लिखा है, "जो जिणु केवलणाणमउ परमाणंद सहाउ। सो परमणमउ परम-परू सो जियं अप्पम्हाय ॥" अतः जिनेन्द्र में अनुराग करना अपनी आत्मा मे ही प्रेम करना है। आत्म-प्रेम का अर्थ है—आत्म-सिद्धि, जिसे योग कहते हैं। जिनेन्द्र का अनुराग भी मोक्ष देता है। आचार्य पूज्यपाद ने आठ कर्मों का नाश कर आत्म-स्वभाव को साधने वाले भगवान् सिद्ध से मोक्ष की प्रार्थना की है। उन्होंने यह भी लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्र का मुख देखने से ही मुक्ति रूपी लक्ष्मी का मुख दिखाई पड़ता है, अन्यथा नही।

पांचवां प्रश्न भक्ति के क्षेत्र में सौदेबाजी से सम्बन्धित है। जो जीव भक्ति करेगा, भगवान उसे सब-कुछ देगा—इहलौकिक और पारलौकिक सभी कुछ। कबीर ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। वे एक मस्त जीव थे। लेन-देन से उनका कोई सम्बन्ध नही था। इस प्रवृत्ति को पनपाने के लिए जिस बीज की आवश्य-कता होती है, वह कबीर में थी ही नहीं। वे तो बिना कुछ मांगे पूर्ण आत्म-समर्पण के पक्ष में थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि मन को 'बिसमल' किए बिना ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते। जब तक सर नहीं दोगे ब्रह्म नहीं मिलेगा! कबीर का कहना था कि ब्रह्म में मन लगा देने से, मन का मलीमस स्वतः दूर हो जाता है। ऐसा नहीं है कि पहले मल दूर करो तब ब्रह्म आयेगा।। सर काट कर हाथ पर रख लो, यही मुख्य है। सर मैला है कि साफ, यह देखने की आवश्यकता नही है। सर कटते ही समर्पण पूरा हो जायेगा, और तभी ब्रह्म भी प्राप्त हो सकेगा। इसे कहते हैं—बिला शर्त समर्पण। इसे ही अहैतुक प्रेम अथवा अहैतुकी भक्ति भी कहते है।

अहैतुकता जैसी जैन भक्ति मार्ग में बन पाती है, अन्यत्र नही। जैन भगवान विश्व का नियन्ता नहीं है, वह मुक्त है, अकर्त्ता है। वह पूर्ण रूप से वीत-

रागी है। वह द्रष्टा-भर है। ऐसे भगवान की भक्ति कोई भी भक्त निष्काम होकर ही कर सकता है। कुछ न देने वाले का दर्शनकांक्षी निष्काम होगा ही, यह सत्य है। ऐसे प्रभु की दर्शनाकांक्षा भी होती है, तो वह कहां टिके? प्रश्न यह है। एक सहारा है—वीतरागी के गुण, अर्थात् उसकी वीतरागिता। निष्काम भक्त को वही भाती है। और वह वीतरागता स्वयं भक्त में मौजूद है, छिपी पड़ी है। वीतरागी के दर्शन से उसे ढूंढने की प्रेरणा मिलती है—स्वतः। इतना ही है। शर्त को कोई स्थान नहीं। लेन-देन से कोई मतलब नहीं।

दूसरी बात यह है कि जैन भक्त को समर्पण करने अन्यत्र नहीं जाना पड़ता। वहां तो 'स्व' के प्रति 'स्व' को *समर्पित करना होता है। जीवात्मा में परमात्म रूप* होने की भावना ज्यों ही जगती है, वह परमात्मा बन जाती है। जैसे सूर्य के प्रतापवान होने पर घन-समूह को विदीर्ण होना ही पड़ता है और सूर्य निराबाध ज्योतिर्मय हो उठता है, जैसे द्वितीया के चन्द्र के आगमन को इच्छा होते ही अमा की निशा को मार्ग देना ही पड़ता है और उसकी शीतल किरणें चतुर्दिक में विकीर्ण हो जाती हैं, जैसे नदी की धार में मरोड़ आते ही पत्थरों को चूर्ण-चूर्ण होना ही पड़ता है और वह एक स्वस्थ प्रवाह लिए वह उठती है, वैसे ही आत्मा मे समर्पण भाव के उगते ही परमात्म-प्रकाश उदित हो उठता है। जब समर्पण के सहारे आत्मा स्वयं ब्रह्म बन सकती है, तो उसे अपना समर्पण सहैतुक बनाने की क्या आवश्यकता है। सहैतुक तो वहीं हैं, जहां द्वित्व हो, जहां भेद हो, पृथक्करण हो। यहां तो एक ही चीज है। 'स्व' के प्रति 'स्व' का समर्पण जितना अहैतुक हो सकता है, अन्य नहीं।

निष्काम भक्ति ही काम्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति की निष्कामता पर सर्वाधिक बल दिया गया है। "कर्मण्यमेवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इसी की एक कड़ी है। गीता ने सन्यास इसी को कहा, जिसमें काम्य कर्मो का न्यास हो। सच्चा त्याग वही है, जिसमें सर्वकर्म फलत्याग हो। जैसे—"काम्यानां कर्मणां न्यांस सन्यासे कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्या गो विचक्षणाः।" इसी निष्कामता को लेकर गांधी जी ने 'अनासक्तियोग' जैसे महान ग्रंथ की रचना की थी। *जब तक निष्कामता न होगी, अनासक्ति हो* ही नहीं सकती। अनासक्त हुए विना फल-त्याग असम्भव है। चिपकन तभी तक है, जब तक फल प्राप्त करने की लालसा है। यदि कर्म मुख्य और फल गौण हो जाये तो व्यक्ति और समाज ही नही, राष्ट्र भी समुन्नति के शिखर पर पहुंच सकता है। फल गौण होता है, अनासक्ति से और अनासक्ति आती है निष्कामता से। जैन ग्रन्थों में उसके सूत्र बहुत हैं, स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं।

जैन भक्ति मार्ग की विशेषता है ज्ञानमूलकता। ज्ञान-बिना भक्ति अन्ध है और भक्ति के बिना ज्ञान शुष्क है, असाध्य और असम्भव। जिस मानव जीवन को हम ज्ञान के सूक्ष्म निराकार तन्तु से जोड़ना चाहते हैं, वह सरस पथ का अनुयायी है। वह अनुभूतिमय है, भाव और भावना युक्त। इनको सहज रूप से सहेज कर ही भक्ति ज्ञान से मिलती है। शायद जैनाचार्यों ने इसी कारण अपने प्रसिद्ध सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः' में सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान दिया है। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा। कोरी श्रद्धा नहीं, उसे 'सम्यक्' पद से युक्त होना ही चाहिए। आचार्य समन्तभद्र सुश्रद्धा के पक्षपाती थे। यहां पर 'सु' सम्यक्त्व का द्योतक है।

दोनों में जैसा समन्वय जैन काव्यों में मिल सका, अन्यत्र नहीं। इसका कारण है—स्वात्मोपलब्धि। स्वात्मा का अर्थ है वह आत्मा जो अष्टकर्मों के मलीमस् से छूट कर विशुद्ध हो चुकी है। वही सिद्ध कहलाती है। उसे निष्फल भी कहते हैं। वह निराकार, अदृष्ट और अमूर्तिक होती है। सिद्ध के रूप में और इस देह में विराजमान शुद्ध आत्मा या चैतन्य में कोई अन्तर नहीं है। और यही स्वात्मा पंचपर-मेष्ठी में होती है। पंचपरमेष्ठी में सिद्ध की बात की जा चुकी है, वह निराकार और अदृष्ट है, किन्तु अवशिष्ट चार परमेष्ठी अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु साकार, दृष्ट और मूर्त्तिक होते हैं। किन्तु स्वात्मा की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतः चाहे ज्ञानी अपने आत्मशुद्धि से उस आत्मा में अभेद की स्थापना करे अथवा भक्त भगवन्निष्ठा से वहां तक पहुंचे, एक ही बात है। दोनों को अनिर्वचनीय आनन्द का स्वाद समान रूप से मिलता है। साकार और निरा-कार के मूलरूप में कोई अन्तर नहीं है, ऐसा जैनाचार्यों ने एकाधिक स्थलों पर लिखा। इसी कारण उनकी दृष्टि में आत्मनिष्ठा और भगवन्निष्ठा में कोई अन्तर नही है।

ज्ञान और भक्ति के सन्दर्भ में ध्यान की बात भी अप्रासंगिक नहीं होगी। श्रमण धारा आज से नहीं, युग-युग से ध्यान और भक्ति में एकरूपता मानती रही है। आचार्य उमास्वाति ने 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' कहा, तो आचार्य पूज्यपाद ने 'नानार्थावलम्बनेन चिन्तापरिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेष-मुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिनग्रे नियम एकाग्रचिन्ता निरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यान स्वरूपमुक्तं भवति।" लिखा। सार है कि मन को सब चिन्ताओं से मुक्त करके एक में केन्द्रित करना ध्यान है। अर्थात् मन को आत्मा में केन्द्रित करने को ध्यान कहते हैं। भक्त भक्ति के द्वारा अपने इष्टदेव में मन को टिकाता है। नानार्थव-

लम्बनेन परिस्पन्दवती चिन्ता से मन को व्यावर्त्य करना दोनों को अभीष्ट है। उसके बिना मन न तो इष्टदेव पर टिकता है और न आत्मा पर केन्द्रित होता है। इस प्रकार भक्ति और ध्यान में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में "पंचपरमेष्ठी का चिन्तवन, आत्मा का ही चिन्तवन है।" आचार्य योगीन्द्र ने भी लिखा है, "जो जिन भगवान है, वह ही आत्मा है, यही सिद्धान्त का सार समझो।" श्री देवसेन ने 'भावसंग्रह' में आधार की दृष्टि से ध्यान के दो भेद किए हैं—सालम्ब ध्यान और निरालम्ब ध्यान। सालम्ब ध्यान वह है, जिसमें मन को पंच परमेष्ठी पर टिकाना होता है। इसी भांति आचार्य वसुनन्दि ने ध्यान और भावपूजा को एक मानकर, ध्यान और भक्ति की एकता सिद्ध की है। पूजा भक्ति का मुख्य अंग है। उसके दो भेद हैं—भावपूजा और द्रव्यपूजा। भावपूजा परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र के अनन्त चतुष्टय आदि गुणों पर मन को केन्द्रित करना है।

सामायिक एक ध्यान ही है। आचार्य समन्तभद्र ने मन को संसार से हटाकर आत्मस्वरूप पर केन्द्रित करने को सामायिक कहा है। ध्यान होने से सामायिक भी भक्ति ही है। पं० जयचन्द छावड़ा ने 'चरित्र पाहुड' का अनुवाद करते हुए एक स्थान पर लिखा है, "एकान्त स्थान में बैठकर अपने आत्मिक स्वरूप का चिन्तवन करना, या पंचपरमेष्ठी का भक्तिपाठ पढ़ना सामायिक है। आचार्य सोमदेव ने भी यशस्तिलक में स्नान, पूजन, स्त्रोत्र, जप श्रुतस्तवन और ध्यान की एकता सिद्ध करते हुए सभी को सामयिक कहा है। आचार्य श्रुतसागर सूरि ने एकाग्रमन से देववन्दना को सामयिक मानकर भक्ति की प्रतिष्ठा की है। आचार्य अमितगति का सामायिक पाठ भी भक्ति पाठ ही है।

जैनाचार्यों ने समाधि को उत्कृष्ट ध्यान के अर्थ में लिया है। उनके अनुसार चित्त का सम्यक् प्रकार से ध्येय में स्थित हो जाना ही समाधि है। समाधि में निर्विकल्प अवस्था तक पहुंचने के पूर्व मन को पंचपरमेष्ठी पर टिकाना अनिवार्य है। भक्त भी अपना मन पंचपरमेष्ठी में तल्लीन करता है, अत: दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने प्राकृत में और आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत में "समाधि भक्ति" की रचना की है। इस भक्ति में समाधि, समाधिस्थों और समाधिस्थलों के प्रति सेवा, श्रद्धा और आदर-सत्कार का भाव प्रकट किया गया है।

तो, ज्ञान और भक्ति का जैसा समन्वित रूप जैन ग्रन्थों में देखने को मिलता है, अन्यत्र नही। वनारसीदास की सुमति ने भक्ति वनकर जिस आराध्य को साधा वह निराकार था और साकार भी, एक था और अनेक भी, निर्गुण था और सगुण

भी । इसी कारण जैन कवियों ने सगुण का समर्थन करने के लिए निर्गुण का खण्डन नहीं किया और निर्गुण की आराधना के लिए सगुण राम पर रावण की हत्या का आरोप नहीं लगाया । वे निर्द्वन्द्व ही दोनों के गीत गा सके । कवि बनारसीदास ने "नाना रूप भेष धरे भेष न लेस धरे, चेतन प्रदेस धरे चेतना को खंध है।" कहकर उन्होंने साकार कहा और निराकार भी । इसी भांति उन्होंने एक ही ब्रह्म को "निर्गुण रूप निरन्जन देवा सगुण स्वरूप करें विधि सेवा ।" लिखकर निर्गुण कहा और सगुण भी । यह एक अनेकान्तात्मक परम्परा थी, जो बनारसी को जन्म से मिली थी ।

इस परम्परा का जाने और अनजाने कबीर पर भी प्रभाव पड़ा—, ऐसा उनके काव्य से सिद्ध है । कबीर को निर्गुण ब्रह्म का उपासक कहा जाता है। निर्गुण का अर्थ है—गुणातीत । गुण का अर्थ है—प्रकृति का विकार—सत्व, रज और तम । संसार इस विकार से संयुक्त है और आत्मा इससे रहित । किन्तु कबीर दास ने विकार-संयुक्त संसार के घट-घट में निर्गुण ब्रह्म का वास दिखाकर सिद्ध किया है कि 'गुण', निर्गुण' का और 'निर्गुण', 'गुण' का विरोधी नहीं है। उन्होंने 'निरगुन में गुन और गुन में निरगुन' को ही सत्य माना है, अवशिष्ट सब को धोखा कहा । अर्थात् कबीरदास ने सत्व, तम से रहित होने के कारण ब्रह्म को निर्गुण और सत्व, रज, तम रूप विश्व के कण-कण में व्याप्त होने की दृष्टि से सगुण कहा । उनका ब्रह्म भीतर से बाहर और बाहर से भीतर तक व्याप्त था। वह अभाव रूप भी था और भाव रूप भी, निराकार भी था और साकार भी, द्वैत भी था और अद्वैत भी । जैसे अनेकान्त में दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ जाते हैं, वैसे कबीर के ब्रह्म में भी थे । वास्तविकता यह है कि कबीरदास को अनेकान्त और उसके पीछे दिया सिद्धान्त न तो किसी ने समझाया और न उसके समझने से उनका कोई मतलब ही था । कबीर सिद्धान्तों के घेरे में बंधने वाले जीव नहीं थे । उन्होंने सदैव सुगन्धि को पसन्द किया— ऐसी सुगन्धि, जो सर्वोत्तम थी । वह कहां से आ रही थी, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की ।

यही अनेकान्त का स्वर अपभ्रंश के जैन दूहा काव्य में पूर्ण रूप से वर्तमान है । कबीर ने जिस ब्रह्म को निर्गुण कहा, योगीन्द्र के परमात्मप्रकाश में उसे ही 'निष्कल' संज्ञा से अभिहित किया गया था । निष्कल की परिभाषा बताते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव ने 'पन्चविधशरीररहितः' लिखा । रामसिंह मुनि ने भी अपनी पाहुण दोहा में निष्कल शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है । शरीर-रहित का अर्थ है—निःशरीर, देह-रहित, अस्थूल, निराकार, अमूर्तिक, अलक्ष्य । प्रारम्भ में योगीन्द्र ने इसी निष्कल को 'निरन्जन' कहकर सम्बोधित किया है । उन्होंने लिखा है—"जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म

और न मरण, वह निरन्जन कहलाता है। निरन्जन का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। वैसे निष्कल के अनेक पर्यायवाची हैं। उनमें आत्मा, सिद्ध, जिन और शिव का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है। मुनि रामसिंह ने समूचे 'पाहुड़ दोहा' में केवल एक स्थान पर ही 'निर्गुण' शब्द लिखा है। उन्होने उसका अर्थ किया है—निर्लक्षण और निःसंग। वह निष्कल से मिलता-जुलता है।

कबीर की 'निर्गुण में गुण और गुण मे निर्गुण' वाली बात अपभ्रंश के काव्यों में उपलब्ध होती है। योगीन्द्र ने लिखा—"जसु अब्भंतरि जगु वसई, जग-अव्यभंतरि जो जि।" ऐसा ही मुनि रामसिंह का कथन है—"तिहुयणि दीसइ देउ, जिण विणवरं तिहुवणु एउ।" अर्थात्, त्रिभुवन में जिनदेव दिखता है और जिनवर में यह त्रिभुवन। जिनवर में त्रिभुवन ठीक वैसे ही दिखता है, जैसे निर्मल जल में ताराओं का समूह प्रतिबिम्बित होता है।

त्रिभुवन में जिनदेव की व्याप्ति विचार का विषय है। त्रिभुवन का अर्थ है—त्रिभुवन में रहने वालों का घट-घट। उसमें निर्गुण या निष्कल ब्रह्म रहता है। निष्कल है पवित्र और घट-घट है अपवित्र, कलुष और मेल से भरा। कुछ लोगों का कथन है कि ब्रह्म गन्दी जगह पर नहीं रह सकता, अतः पहले उसको तप, संयम या साधना किसी भी प्रक्रिया से शुद्ध करो, तब वह रहेगा, अन्यथा नहीं। कबीर का कथन था कि राम के बसते ही घट स्वतः पवित्र हो जायेगा। मेल अपने आप छूट जायेगा और कलुप स्वयं चुककर रह जायेगा। उन्हों ने लिखा—"ते सब तिरे राम रसवादी, कहे कबीर बूड़े बकवादी।" उनकी दृष्टि में विकार की लहरों से तरंगायित इस संसार-सागर से पार होने के लिए राम रूपी नैय्या का ही सहारा है। कबीर से बहुत पहले मुनि रामसिंह ने भीतरी चित्त के मेल को दूर करने के लिए "अब्भंतरि चित्ति वि मइलियइं बाहरि काइ तवेण। चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेंण॥" के द्वारा निरन्जन को धारण करने की बात कही थी। उन्होंने यह भी लिखा कि जिसके मन में परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति पा लेता है। एक स्थान पर तो उन्होंने कहा कि जिसके हृदय में जिनेन्द्र मौजूद है, वहां मानो समस्त जगत ही संचार करता है। उसके परे कोई नहीं जा सकता। इसी प्रकार आचार्य योगीन्द्र का कथन है—"जिसके मन में निर्मल आत्मा नहीं बसती, उसका शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से भी क्या होगा?" अर्थात् निष्कल ब्रह्म के बसने से मन शुद्ध हो जायेगा और गन्दगी स्वतः विलीन हो जायेगी। मन निरन्जन को पाते ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। इसके सिवा, तन्त्र और मन्त्र उसे मोक्ष नहीं दिला सकते। महचन्द ने अपने पाहुड़ दोहा में लिखा है—"निष्कल परम जिन को पा लेने से जीव सब

कर्मों से मुक्त हो जाता है, आवागमन से छूट जाता है, और अनन्त सुख प्राप्त कर लेता है।" अर्थात् कलुष स्वतः हट जाता है—रहता ही नहीं।

जैन भक्ति का एक विशेष पहलू है—दिव्य अनुराग। इसे यदि भगवत्प्रेम कहें तो अनुचित न होगा। यहां राग और प्रेम पर्यायवाची हैं। इसी को शाण्डिल्य ने 'परानुरक्तिः' कहा है। परानुरक्ति गम्भीर अनुराग को कहते हैं। गम्भीर अनुराग ही प्रेम कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने रति अथवा अनुराग के गाढ़े हो जाने को 'प्रेम' कहा है। "भक्ति रसामृतसिन्धु" में भी लिखा है, "सम्यङ मसृणित स्वान्तो ममत्वाति शयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यदे ॥" इन सब से पूर्व, छठी शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद ने 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रेतेषु प्रवचने त्र भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागो विशुद्धियुक्तो नुरागो भक्तिः," अर्थात् अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में भावविशुद्धि-युक्त अनुराग ही भक्ति हैं—लिखा था। विक्रम की ११ वी शताब्दी के जैन आचार्य सोमदेव का कथन है," जिन जिनागम और तप तथा श्रुत के पारगामी आचार्य में सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है।

जैन आचार्यों ने राग को बन्ध का कारण कहा है, किन्तु वहीं, जहां वह 'पर' में किया गया हो। वीतरागी परमात्मा 'पर' नही, 'स्व' आत्मा ही है और आत्म-प्रेम का अर्थ है—आत्मसिद्धि, जिसे मोक्ष कहते हैं। शायद इसी कारण आचार्य पूज्यपाद ने राग को भक्ति कहा। वीतरागी के प्रति राग का यह भाव जैन भक्ति के रूप में निरन्तर प्रतिष्ठित बना रहा। भक्त कवियों ने उसी को अपना आधार माना।

हिन्दी के 'जैन भक्ति काव्य' में यह रागात्मक भाव जिन अनेक मार्गों से प्रस्फुटित हुआ, उनमें दाम्पत्य रति प्रमुख है। दाम्पत्यरति का अर्थ है—पति-पत्नी का प्रेमभाव। पति-पत्नी में जैसा गहरा प्रेम सम्भव है, अन्यत्र नहीं। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में लिखा, 'कामिहि नारि पिआरि जिमि, प्रिय लागहु मोहि राम।' शायद इसी कारण दाम्पत्यरति को रागात्मक भक्ति में शीर्ष स्थान दिया गया है।

हिन्दी के जैन कवियों ने चेतन को पति और सुमति को पत्नी बनाया। पति के विरह में पत्नी बेचैन रहती है, वह सदैव पति-मिलन की आकांक्षा करती है। पति-पत्नी के प्रेम में जो मर्यादा और शालीनता होती है, जैन कवियों ने उसका पूर्ण निर्वाह दाम्पत्य रति वाले रूपकों में किया है। कवि बनारसीदास की 'अध्यात्मपदपंक्ति', 'भैया' भगवतीदास की 'शत अष्टोत्तरी,' मुनि विनयचन्द की 'चूनड़ी', द्यानतराय, भूधरदास, जगजीवन के पदों में दाम्पत्यरति के

अनेक दृष्टान्त हैं और उनमें मर्यादा का पूर्ण पालन किया गया है। हिन्दी के कतिपय भक्ति काव्यों में दाम्पत्य रति छिछले प्रेम की द्योतक भर बन कर रह गयी है। उनमें भक्ति कम और स्थूल सम्भोग का भाव अधिक है। भक्ति की ओट में वासना को उद्दीप्त करना किसी भी दशा में ठीक नहीं कहा जा सकता। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे।

आध्यात्मिक विवाह भी रूपक काव्य है। इनमें मेरुनन्दन उपाध्याय का 'जिनोदयसूरि विवाहलउ', उपाध्याय जय सागर का 'नेमिनाथ विवाहलो', कुमुदचन्द्र का 'ऋषभ विवाहलो' और अजयराज पाटणी का 'शिवरमणी का विवाह' इस दिशा की महत्वपूर्ण कड़ियां हैं। आध्यात्मिक विवाह जैनों की मौलिक कृतियां हैं। निर्गुनिए संतों ने ऐसी रचनाएं नहीं कीं। जैन कवियों ने 'आध्यात्मिक फागु' भी अधिकाधिक रचे। चेतन अपनी सुमति आदि अनेक पत्नियों के साथ होली खेलता रहा है। कभी-कभी पुरुष और नारी के जत्थों के मध्य भी होलियां खेली गई हैं। वैसे तो होलियां सहस्रों जैन पदों में बिखरी हैं, किन्तु जैसी सरसता द्यानतराय, जगजीवन, और रूपचन्द के काव्य में है, दूसरी जगह नही। चेतन की पत्नियों को 'चूनड़ी' पहनने का चाव था। कबीर की बहुरिया ने भी 'चूनड़ी' पहनी है, किन्तु साधुकीर्ति की चूनड़ी में संगीतात्मक लालित्य अधिक है।

नेमिनाथ और राजीमती से सम्बन्धित मुक्तक और खण्ड काव्यों में जिस प्रेम की अनुभूति सन्निहित है, वह भी स्थूल नहीं, दिव्य है। वैरागी पति के प्रति यदि पत्नी का सच्चा प्रेम है, तो वह भी वैराग्य से युक्त ही होगा। राजीमती का नेमीश्वर के साथ विवाह नहीं हो पाया था कि वे भोज्यपदार्थ बनने के लिए बंधे पशुओं की करुण पुकार से प्रभावित होकर तप करने चले गये, फिर भी राजीमती ने जीवन-पर्यन्त उन्हीं को अपना पति माना। ऐसी पत्नी का प्रेम झूठा अथवा वासना-मिश्रित होगा, कोई नहीं कह सकता।

हिन्दी की अनेक मुकतक रचनाओं में राजीमती के सौन्दर्य और विरह की भावपरक अनुभूतियां हैं, किन्तु वे अपभ्रंश की प्रेणितपतिकाओं से थोड़ा भी प्रभावित नहीं हैं। राजीमती विरह-प्रपीड़ित है, किन्तु उसे पति के सुख का ही अधिक ध्यान है। विरह में न तो उसकी शैय्या नागिन बन सकी हैं और न उसने अपनी रातें ही पाटियां पकड़कर बितायी हैं। राजशेखर के नेमीश्वरफागु, हर्ष-कीर्ति, हेमविजय और विनोदीलाल के 'नेमीश्वरगीतों' में राजीमती का सौन्दर्य तथा जिनहर्ष, लक्ष्मीवल्लभ, विनोदीलाल और धर्मचंद्र के 'नेमि-राजीमती बारह मासो' में राजीमती का विरह उत्तम काव्य का निदर्शन है। कहीं ऊहात्मकता

नहीं। सौन्दर्य और विरह की कहीं नाप-जोख नही। सब कुछ स्वाभाविक है। भावों के सांचे में ढला।

हिन्दी के जैन कवि भगवान के अनन्य प्रेम को जिस भांति आध्यात्मिक पक्ष में घटा सके, हिन्दी का कोई अन्य कवि कदाचित ही कर सका। कबीर में दाम्पत्यभाव है और आध्यात्मिकता भी, किन्तु वैसा आकर्षण नही, जैसाकि आनन्दघन में है। जायसी के प्रवन्ध काव्य में अलौकिक की ओर इशारा भले ही हो, किन्तु लौकिक कथानक के कारण उसमें वह एकान्तता नहीं आ पाई है, जैसी कि आनन्दघन के मुक्तक पदों में पाई जाती है। सुजान वाली आनन्दघन के बहुत से पद 'भगवद्-भक्ति' में वैसे नहीं खप सके, जैसे कि सुजान के पक्ष में घटे हैं। महात्मा आनन्द-घन जैनों के एक पहुंचे हुए साधु थे। उनके पदों में हृदय की तल्लीनता है, एक निष्ठता है, एकाग्रता है, समाधि-जैसी स्थिरता है, कहीं दंप नहीं, अटकाव नहीं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'सुहागिन के हृदय में निगुण ब्रह्म की अनुभूति से ऐसा प्रेम जगा है कि अनादि काल से चली आने वाली अज्ञान की नींद समाप्त हो गई। भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को प्रकाशित किया है, जिससे अहंकार स्वयं पलायन कर गया और अनुपम तत्त्व सहज ही मिल गया।' एक दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा है, 'प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है कि जिसके लगता है, वह ढेर हो जाता है। वह एक ऐसी वीणा का नाद है, जिसको सुनकर आत्मा रूपी मृग तिनके तक चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती।'

अनन्य प्रेम में वह शक्ति होती है कि स्वयं भगवान भक्त के पास आते हैं भक्त नहीं जाता, जब भगवान आते हैं, तो भक्त के आनन्द का पारावार नहीं रहता। आनन्दघन की सुहागिन नारी के नाथ भी स्वयं आए हैं, और अपनी प्रिया को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है। लम्बी प्रतिक्षा के बाद आए नाथ की प्रसन्नता में, पत्नी ने भी विविध भांति के शृंगार किये हैं। उसने प्रेम, प्रतीति, आग और रुचि के रंग में साड़ी पहनी है, भक्ति की मेंहंदी रांची है और भाव का सुखकारी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव की चूड़ियां पहनी हैं और स्थिरता का भारी कंगन धारण किया है। ध्यान रूपी उरबसी गहना वक्षस्थल पर शोभित है, और प्रिय के गुण की माला उसने गले में पहनी है। सुख के सिन्दूर से मांग को सजाया है और विरति की वेणी को आकर्षक ढंग मे गूंथा है। उसके घट में त्रिभुवन की सबसे अधिक प्रकाशमान ज्योति का जन्म हुआ है। वहां से अनहद नाद भी उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एक तान से पियरस का आनन्द उपलब्ध हो रहा है।"

(शेष पृष्ठ 70 पर)

जैन प्रतिभा-विधान के आधार-ग्रन्थ

वालचन्द्र जैन —एम० ए०, साहित्य शास्त्री— जवलपुर

जैन परम्परा में अर्हंत, सिद्ध साधु और केवली प्रज्ञप्त धर्म, इन चार को मंगल और लोकोमत्त माना गया है। साधु तीन प्रकार के वताए गए हैं। १. आचार्य २. उपाध्याय और ३. सर्व (साधारण) साधु। उसी प्रकार केवली भगवान के उपदेश को जिनवाणी या श्रुत भी कहा जाता है। इन्ही पंच परमेष्ठियों और श्रुतदेवता की पूजा करने का विधान प्राचीन जैन ग्रंथों मे मिलता है।[1] शासन देवताओं, दिक्पालों तथा नवग्रहो आदि को पूजा का अंश देकर उनका सम्मान करने की परम्परा जैनों में पश्चात्काल में प्रचलित हुई।

अनेक जैन ग्रन्थों में जिन पूजा की आवश्यकता और उसकी विधि का वर्णन किया गया है। किन्ही आचार्यों ने इसे वैयावृत्य का अंग माना है जैसे समन्तभद्र ने रत्नकरंडश्रावकाचार में और किन्ही ने सामयिक शिक्षाव्रत मे सम्मिलित किया है, जैसे सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक चम्पू में। जिनसेन आचार्य के आदि पुराण में पूजा श्रावक के निरपेक्ष कर्म के रूप में अनुशंसित है।

पूजन छह प्रकार की वतायी गयी है, १. नामपूजा, २. स्थापना पूजा, ३. द्रव्यपूजा, ४. क्षेत्रपूजा, ५. कालपूजा और ६. भावपूजा।[2] इनमें से स्थापना के दो भेद किए गए हैं, एक तो सद्भाव स्थापना और दूसरी असद्भाव स्थापना। प्रतिष्ठेय की तदाकार सांगोपांग प्रतिमा वनाकर उसकी प्रतिष्ठा करना सद्भाव स्थापना और शिला, पूर्णकुंभ, अक्षत, रत्न, पुष्प, आसन आदि प्रतिष्ठेय से भिन्न आकार की वस्तुओं मे प्रतिष्ठेय का न्यास करना असद्भाव स्थापना है।[3] वर्तमान अवसर्पिणी काल में असद्भाव स्थापना पूजा का जैन ग्रन्थकारों ने अक्सर निषेध किया है। वर्तमान काल में लोग कुलिंगमति से मोहित होते है, इस कारण वे असद्भाव स्थापना से अन्यथा कल्पना भी कर सकते हैं।[4] अतएव वसुनन्दि ने कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं की ही पूजा को स्थापना पूजा कहा है।[5]

प्राणियों के आभ्यंतर मल को गलाकर दूर करने वाला और आनन्ददाता होने

के कारण मंगल पूजनीय है। पूजा के समान मंगल के भी छह प्रकार जैन ग्रन्थकारों ने बताये हैं। वे हैं, १. नाममंगल, २. स्थापना मंगल, ३. द्रव्यमंगल ४. क्षेत्रमंगल, ५. कालमंगल, और ६. भावमंगल।[6] कृत्रिम और अकृत्रिम जिन विम्वों को स्थापनामंगल माना गया है।[7] प्रतिष्ठासारोद्धार और पदमानन्द-महाकाव्य में जिनेन्द्र की प्रतिमाओं को स्थापनाजिन या स्थापना अर्हत् की संज्ञा दी गयी हैं।[8] जयसेन के अनुसार, जिन बिम्ब का निर्माण करना मंगल है।[9] भाग्यवान गृहस्थों के लिए अपने (न्यायोपात्त) धर्म को सार्थक बनाने हेतु चैत्य और चैत्यालय के विना कोई अन्य उपाय नहीं है।[10]

जिन प्रतिमा के दर्शन कर चिदानन्द जिन का स्मरण होता है अतएव जिन-बिम्ब का निर्माण कराया जाता है तथा उनमें जिन भगवान और उनके गुणों की प्रतिष्ठा कर उनकी पूजा की जाती है। जैन मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर बहत्तर जिन मन्दिरों का निर्माण करवाकर उनमें जिन प्रतिमाओं की स्थापना कराई थी और तब से ही जैन प्रतिमाओं की स्थापना विधि की परम्परा चली।[11] स्थापनाविधि या प्रतिष्ठा-विधि का विस्तार से अथवा संक्षिप्त वर्णन करने वाले पचासों ग्रन्थ जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। वस्तुतः वे सभी मध्यकाल की रचनाएं हैं। पर ऐसा नहीं है कि उन ग्रन्थों की रचना से पूर्व जैन प्रतिमाओं का निर्माण नहीं होता था। वस्तुतः अति प्राचीनकाल में जैन प्रतिमाओं का निर्माण और उनकी स्थापना होती रही है, इस तथ्य की पुष्टि निश्शंकरूपेण पुरातत्वीय प्रमाणों और प्रचीन जैन साहित्य के उल्लेखों से होती है। आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवनकाल में, उनके दीक्षा लेने से पूर्व, उनकी चन्दनकाष्ठ की प्रतिमा निर्मित की गयी थी।[12] हाथीगुफा प्रशस्ति में नन्दराज द्वारा कलिंग की जिनप्रतिमा मगध ले जाये जाने का उल्लेख है। वैसे तो कुछ विद्वान हड़प्पा की प्रतिमा के कबन्ध को जैन प्रतिमाओं का आवरूप स्वीकार करते हैं, पर लोहानीपुर से प्राप्त और वर्तमान में पटना संग्रहालय में प्रदर्शित जिन प्रतिमाएं तथा खंडगिरि (उड़ीसा) और मथुरा में उपलब्ध विपुल शिल्प प्रतिमाएं और आयागपट्ट आदि, जैन प्रतिमा निर्माण के प्राचीनतर नमूने हैं। मथुरा के कंकालीटीले से प्राप्त उक्त कलाकृतियों में विभिन्न जिन प्रतिमाओं के अतिरिक्त स्तूप, चैत्यवृक्ष, ध्वजस्तम्भ, धर्मचक्र, और अष्टमंगलद्रव्य आदि का रूपांकन मिला है। देवी सरस्वती और नेगमेष की प्राचीन प्रतिमाएं भी मथुरा में प्राप्त हुई हैं। उसी प्रकार, वम्बई के प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय की पार्श्वनाथ प्रतिमा लगभग २१ सौ वर्ष प्राचीन आंकी गई है।

उपलब्ध जैन आगमों के पूर्ववर्ती विद्यानुवाद नामक दशवें और क्रियाविशाल

नामक तेरहवें पूर्व में शिल्प और प्रतिष्ठा सम्बन्धी विवेचन का होना बताया जाता है पर वे विच्छिन्न हो गए है। सूत्रकृतांग, समवायांग, कल्पसूत्र आदि आगम ग्रन्थों में अवश्य जैन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कुछ आद्य-सूचनाएं मिलती हैं। समवायांग में ५४ महापुरुषों के सम्बन्ध में विवरण है पिछली परम्परा में इन महापुरुषों या शलाकापुरुषों की संख्या ६३ मानी गयी है किन्तु समवायांग की सूची में ६ प्रतिनारायणों की गणना नही किए जाने के कारण उनकी संख्या ५४ ही है। शलाका पुरुषों में सर्वाधिक श्रेष्ठ और पूज्यनीय २४ तीर्थंकरों को माना गया है। ये तीर्थंकरों के चरितग्रन्थों में उनके शासन से सम्बन्धित देवताओं के रूप का भी वर्णन मिलता है। हेमचन्द्र आचार्य का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, शीलांक आचार्य का प्राकृत भाषा में रचित चउपन्नमहापुरिसचरित, पुष्पदन्त का अपभ्रंश भाषा का तिसट्ठिमहापुरि सालंकार, आशाधर का संस्कृत भाषा में त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र और चामुण्डराय का कन्नड़ भाषा का त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण, ये सभी सुप्रसिद्ध चरितग्रन्थ है। वर्द्धमानसूरि के आदिणाहचरिउ, विमलसूरि के पउमचरिउ, रविषेणाचार्य के पद्म-चरित्र, जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण और द्वितीय जिनसेन का आदि पुराण और गुणभद्र का उतर पुराण, अमरचन्द्रसूरि कृत पद्मानन्द महाकाव्य या चतुर्विंशतिजिनेन्द्रचरित, गुणविजयसूरि कृत नेमिनाथचरित, भवदेवसूरि कृत पार्श्वनाथचरित्र तथा अन्य अनेक दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के पुराणो और चरित्रकाव्यों में विभिन्न तीर्थंकरों और उनके समकालीन महापुरुषों का विवरण दिया गया है और उसके साथ प्रतिमा पूजा सम्बन्धी जानकारी भी दी गयी है।

प्रथमानुयोग के उपर्युक्त प्रकार के पुराण और चरित ग्रन्थों के अलावा करणानुयोग साहित्य के ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न द्वीप, क्षेत्र, पर्वत आदि स्थानों में स्थित जिनालयों और जिनविम्बों का वर्णन है। उन्ही स्थानों में निवास करने वाले चतुर्निकाय देवों के सम्बन्ध में भी करणानुयोग साहित्य में विस्तार से जानकारी मिलती है। उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में मान्यता प्राप्त है। इस सूत्रग्रन्थ के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का वर्णन है। पद्मनन्दि के जम्बूदीपपण्णत्तिसंगहो, यतिवृषभ के तिलोयपण्णत्ति, नेमिचन्द्र के त्रिलोकसार तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपसमास, क्षेत्रसमास, संग्रहणी आदि की विषयभूत सामग्री से भी जैन प्रतिमाविधान के विभिन्न अंगों का प्रामाणिक ज्ञान होता है।

तीर्थंकरों और सरस्वती, चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि देवियों के स्तुतिपरक अनेक स्तोत्र आचार्यो और पंडित द्वारा रचे गये थे। यह स्तोत्रसाहित्य

जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के लिए भी मूल्यवान है। आचार्य समन्तभद्र का स्वयंभूस्तोत्र इस विषयक प्राचीनतर कृति है। पाचवीं-छठी शताब्दी में मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र और कुमुदचन्द्र ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र की रचना की थी। इनमें क्रमशः आदिनाथ और पार्श्वनाथ की स्तुति है। इन दोनों स्तोत्रों का जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रचार हैं। धनंजय कवि ने सातवीं शतब्दी में विषापहार स्तोत्र की और वादिराज ने ग्यारहवी शताब्दी में एकीभाव स्तोत्र की रचना की। जिनसहस्त्रनाम स्तोत्रों में भगवान जिनेन्द्रदेव को ब्रह्मा, विष्णु आदि नामों से भी स्मरण किया गया है। सिद्धसेन दिवकार के जिन सहस्त्रनाम स्तोत्र का उल्लेख मिलता है। नौवीं शताब्दी ईस्वी में आचार्य जिनसेन ने, तेरहवीं शताब्दी में आशाधर पंडित ने, सोलहवीं शताब्दी में मेघविजयगणि ने और सत्रहवीं शताब्दी मे विनयविजय उपाध्याय ने जिनसहस्त्र नाम स्तोत्रों की रचना की थी। वप्पभट्टि, शोभनमुनि और मेरूविजय की स्तुति चतुर्विंशतिकायें भी प्रसिद्ध हैं। इन स्तोत्रों और स्तुतियों में जिन भगवान के बिम्ब का शाब्दिक प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है।

अनेक आचार्यो और पंडितों ने सरस्वती, चक्रेश्वरी, अम्बिका जैसी देवियों के स्तुतिपरक स्तोत्रों की भी रचना की थी। उदाहरण के लिए, आशाधर पंडित रचित सरस्वती स्तुति, जिनप्रभसूरि कृत शारदास्तवन, साध्वी शिवार्या (आचार्य हेमचन्द्र सूरि—सम्पादक) द्वारा रचित पठित सिद्धसारस्वतस्तवन, जिनदत्तसूरि कृत अम्बिका स्तुति और महाभात्य वास्तुपाल विरचित अम्बिका स्तवन आदि नाम गिनाये जा सकते हैं। इन स्तुतियों में उन-उन देवियों के वाहन, आयुध, रूप आदि का वर्णन किया गया है।

तांत्रिक प्रभाव के कारण जैनों ने भी तरह-तरह के यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, चक्र आदि की कल्पना की। *सिद्धान्तरूप से तन्त्र की उपेक्षा करने वाले जैन आचार्यो* को भी समय की मांग से तान्त्रिक ग्रन्थों और कल्पों की रचना करनी पड़ी। यह स्थिति मुख्यतः नौवीं-दसवीं शताब्दी के साथ आयी। उस प्रवाह में हेलाचार्य, इन्द्रनन्दि और मल्लिषेण जैसे दिग्गजों ने तान्त्रिक देवियों की साधना की और लौकिक कार्यसिद्धि प्राप्त की। हेलाचार्य ने ज्वालिनी-कल्प की रचना की थी। उल्लेख मिलता है कि उन्होंने स्वयं ज्वालिनी देवी के आदेश से वह रचना की। हेलाचार्य द्रविड संघ के गणधीश थे। दक्षिण देश के हेग नामक ग्राम में किसी ब्रह्मराक्षस ने उनकी कमल श्री नामक शिष्या को ग्रसित कर लिया था। उस ब्रह्मराक्षस से शिष्या की मुक्ति के लिए हेलाचार्य ने ग्राम के निकटवर्ती नीलगिरि शिखर पर वह्नि देवी को सिद्ध किया और ज्वालिनी मन्त्र उपलब्ध किया। परम्परागतरूप से वही मन्त्र गुणनन्दि के शिष्य इन्द्रनन्दि

को मिला, किन्तु उन्होंने उस कठिन मन्त्र को आर्या गीता छंदों में रचकर सरली-कृत किया। इन्द्रनन्दि के ज्वालिनीकल्प की प्रतियां उत्तर और दक्षिण भारत के शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध हैं। उनमे दिए गए विवरण से विदित होता है कि ५00 श्लोक संख्या वाले इस कल्प की रचना कृष्णराज के राज्यकाल में मान्यखेट कटक में शक संवत् ८६१ की अक्षय तृतीया को सम्पूर्ण हुयी थी। इन्द्रनन्दि द्वारा रचित पद्मावतीपूजा की प्रतियां भी उपलब्ध हुयी हैं और उनके शिष्य वासव-नन्दि की कृतियों का भी उल्लेख मिला है।

मल्लिषेण श्रीषेण के पुत्र और आचार्य जिनसेन के प्रशिष्य थे। उनके सुप्रसिद्ध मन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थ भैरवपद्मावतीकल्प का दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रचार रहा है। उस ग्रन्थ में ४०० श्लोक हैं। ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी में इन मान्त्रिक विद्वान की उपाधि उभयभाषाकविशेखर थी। उनके द्वारा रचित विद्यानुवाद, कामचाण्डालिनीकल्प, यक्षिणीकल्प और ज्वालिनी-कल्प की प्रतियां भी विभिन्न शास्त्रभण्डारों में सुरक्षित हैं। सागरचन्द्रसूरि के मन्त्राधिराजकल्प में यक्षयक्षिणीयों तथा अन्य देवताओं की आराधना की गयी है। बप्पभट्टि विजयकीर्ति और उनके शिष्य मलयकीर्ति के सरस्वतीकल्प, भट्टारक अरिष्टनेमिका श्रीदेवीकल्प, भट्टारिक शुभचन्द्र का अम्बिकाकल्प, यशोभद्र उपाध्याय के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का अदभुतपद्मावतीकल्प, ये सभी तान्त्रिक प्रभावयुक्त हैं। इनमे देवियों के वर्ण, वाहन, आयुध आदि का विवरण उपलब्ध होने से ये जैन प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। लोकानुसरण करते हुए जैन आचार्यो ने ६४ योगिनियों और ९६ क्षेत्रपालों की स्तुतियां और पूजा-विधि सम्बन्धी कृतियों की भी रचना की और उनका प्रचार किया।

श्रावकाचार युग में श्रावकाचार ग्रन्थों, संहिताओं और प्रतिष्ठापाठों की रचनाएँ हुयी। इन्द्रनन्दि और एकसंधि भट्टारक की जिन संहिताओं की प्रतियां उत्तर भारत में आरा, दक्षिण में मूडबिद्री और पश्चिम में राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध हुयी हैं। उपासकाध्ययन नामक श्रावकाचार ग्रन्थ का उल्लेख अनेक कृतिकारों ने यथास्थान किया है। पूज्यपाद द्वारा रचित उपासकाध्ययन का भी उल्लेख मिलता है। सोमदेवसुरि के यशस्तिलक चम्पू के एक भाग का नाम उपासकाध्ययन है। वसुनन्दि ने उपासकाध्ययन का उल्लेख किया है पर उनका तात्पर्य किस विशिष्ट कृति से है, यह ज्ञात नहीं हो सका है। स्वयं वसुनन्दि ने श्रावकाचार विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी। चामुण्ड-राय ने अपने चारित्रसार मे 'उक्तं च उपासकाध्ययने' लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है किन्तु वह श्लोक किसी उपलब्ध ग्रन्थ में मूलतः नहीं मिला है।

प्रतिष्ठाग्रन्थों में से जयसेन या वसुविन्दु कृत प्रतिष्ठापाठ में शासन देवताओं और यक्षों की पूजा का विधान नहीं मिलता। इस प्रतिष्ठापाठ की प्रकाशित प्रति में जयसेन कुन्द-कुन्द आचार्य के अग्रशिष्य बताये गये हैं। ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य बताते हुए सूचित किया गया है कि सह्याद्रि पर्वत से पूत सीमायुक्त कोंकण देश में रत्नगिरि शिखर पर लालट्ट राजा ने दीर्घ चैत्य का निर्माण कराया था। उस कार्य के निमित्त, गुरु की आज्ञा प्राप्त कर, जयसेन ने दो दिनों में ही प्रतिष्ठापाठ की रचना की।[13] विक्रम संवत् १०५५ में रचित धर्मरत्नाकर के कर्त्ता का नाम भी जयसेन था। किन्तु यह कहना कठिन है कि धर्मरत्नाकर के रचयिता जयसेन और वसुविन्दु अपर नाम वाले जयसेन अभिन्न हैं अथवा नहीं।

प्रतिष्ठासारसंग्रह के रचयिता वसुनन्दि के श्रावकाचार का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वे आशाधर पंडित और अय्यपार्य से पूर्ववर्ती थे क्योंकि इन दोनों ने ही अपने-अपने ग्रन्थों में वसुनन्दि के मत का उल्लेख किया है। प्रतिष्ठा-सारसंग्रह की रचना के लिए वसुनन्दि ने चन्द्रप्रज्ञप्ति के साथ महापुराण से भी सार ग्रहण किया था। आशाधर पंडित के प्रतिष्ठासारोद्धार की रचना विक्रम संवत् १२८५ में आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को परमार नरेश देवपाल के राज्यकाल में नलकच्छपुर के नेमिनाथ चैत्यालय में सम्पूर्ण हुयी थी। ग्रन्थ की प्रशस्ति में[14] उल्लेख किया गया है कि प्राचीन जिनप्रतिष्ठा ग्रन्थों का भलीभाँति अध्ययन कर और ऐन्द्र (सम्भवतः इन्द्रनन्दि) के व्यवहार का अवलोकन कर आम्नाय विच्छेदरूपी तम को छेदने के लिए युगानुरूप ग्रन्थ की रचना की गयी। आशाधर जी ने वसुनन्दि के पक्षधर विद्वानों के विपरीत मत का भी उल्लेख किया है।[15] आशाधर के प्रतिष्ठासारोद्धार का प्रचार केल्हण नामक प्रतिष्ठाचार्य ने अनेक प्रतिष्ठाओं में पढ़कर किया था।

नेमिचन्द्र का प्रतिष्ठातिलक भी बहुप्रचारित ग्रन्थ है। उसमें इन्द्रनन्दि की रचना का उल्लेख है। नेमिचन्द्र जन्मना ब्राह्मण थे। प्रतिष्ठातिलक की पुष्पिका में उन्होंने लिखा है कि भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित ब्राह्मणवंश में से कुछ विवे-कियों ने जैन धर्म को नहीं छोड़ा। उस वंश में भट्टारक अकलंक, इन्द्रनन्दि मुनि, अनंतवीर्य, वीरसेन, जिनसेन, वादीभसिंह, वादिराज, हस्तिमल्ल (गृहाश्रमी) परवादिमल्ल मुनि हुये। उन्हीं के अन्वय में लोकपाल नामक विद्वान द्विज हुआ जो गृहस्थाचार्य था और चोलराजा उसकी पूजा करते थे। राजा के साथ लोकपाल कर्णाटक में प्रतिदेश पहुँचा। वहाँ उसकी वंश परम्परा में समयनाथ, कवि राजमल्ल, चिंतामणि, अनंतवीर्य, संगीतज्ञ पायनाथ, आयुर्वेदज्ञ पार्श्वनाथ और षट्कर्मज्ञाता ब्रह्मदेव हुये। ब्रह्मदेव का पुत्र देवेन्द्र संहिताशास्त्र का ज्ञाता था।

उनके आदिनाथ, नेमिचंद्र और विजयपये पुत्र थे। इन्हीं नेमिचंद्र के द्वारा प्रतिष्ठा-तिलक की रचना की गयी।

नेमिचंद्र की माता का नाम आदिदेविका बताया गया है। नाना विजयपार्य थे और नानी का नाम श्रीमती था।

नेमिचन्द्र के तीन मामा थे, चंद्रपार्य, ब्रह्मसूरि और पार्श्वनाथ। उनके ज्येष्ठ भ्राता आदिनाथ के त्रैलोक्यनाथ, जिनचंद्र आदि स्वयं नेमिचन्द्र के कल्याणनाथ और धर्मशेखर तथा कनिष्ठ भ्राता विजय के समन्तभद्र नामक पुत्र हुये, नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक की प्रशस्ति में विजयकीर्ति नामक आचार्य का स्मरण किया है। पर किस प्रसंग में, यह वहां स्पष्ट नहीं है। अभयचन्द्र नामक महोपाध्याय से नेमिचन्द्र ने तर्क, व्याकरण और आगम आदि की शिक्षा प्राप्त की थी एवं सत्य-शासन परीक्षा प्रकरण तथा अन्य ग्रन्थों की रचना की थी। प्रतिष्ठातिलक की प्रशस्ति में बताया गया है कि नेमिचन्द्र को राजा से पालकी, छत्र आदि वैभव प्राप्त हुये थे। उसी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उनका परिवार समृद्ध था। नेमिचन्द्र ने जैन मन्दिर, मंडप, वीथिक आदि का निर्माण कराया था और पार्श्वनाथ मंदिर में गीत, वाद्य, नृत्य आदि का प्रबन्ध किया था। नेमिचन्द्र स्थिरकदम्ब नगर में निवास करते थे। अपने पुत्रों और बन्धुओं की प्रार्थना पर उन्होंने प्रतिष्ठातिलक की रचना की थी।

हस्तिमल्ल के प्रतिष्ठापाठ का उल्लेख अय्यपार्य ने किया है। किन्तु उस ग्रंथ की प्रमाणित प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। आरा के जैन सिद्धान्त भवन में सुरक्षित प्रतिष्ठापाठ नामक हस्तलिखित ग्रन्थ के कर्ता संभवतः हस्ति-मल्ल हो सकते हैं। अय्यपार्य का प्रतिष्ठाग्रंथ जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय के नाम से ज्ञात है। वे हस्तिमल्ल के अन्वय में हुये थे और उनका गोत्र काश्यप था। अय्यप के पिता का नाम करुणाकर और माता का नाम अर्कमाम्बा था। करुणाकर गुणवीर-सूरि के शिष्य पुष्पसेन के शिष्य थे। अय्यप के गुरु धरसेन आचार्य थे। अय्यप के जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय में ३५६० श्लोक हैं। वह रूद्रकुमार के राज्य में एक शिलानगरी में शक संवत् १२४१ में माघ सुदी १० रविवार को सम्पूर्ण हुआ था।[16] अय्यपार्य ने सूचित किया है कि उन्होंने वीराचार्य, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणभद्र, वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि, आशाधर और हस्तिमल्ल के ग्रंथों का सार लेकर पुष्पसेन गुरू के उपदेश से ग्रन्थ की रचना की है।

वादि कुमुदचन्द्र के प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण या जिनसंहिता की प्रतियां कई स्थानों में उपलब्ध हैं। मद्रास ओरियण्टल लाइब्रेरी में सुरक्षित प्रति की उत्थानिका और पुष्पिका से ज्ञात होता है कि कुमुदचन्द्र माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे जिनका स्वयं एक प्रतिष्ठाकल्प उपलब्ध है। भट्टाकलंक

के प्रतिष्ठाकल्प, वलसूरि के प्रतिष्ठातिलक, भट्टारक राजकीर्ति के प्रतिष्ठादर्श, पंडिताचार्य नरेन्द्रसेन के प्रतिष्ठादीपक, पंडित परमानन्द की सिंहासनप्रतिष्ठा आदि-आदि रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियां आरा, जयपुर तथा अन्य स्थानों के शास्त्रभण्डारों में अद्यावधि सुरक्षित है। ये सभी दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के सकलचन्द्र उपाध्याय का प्रतिष्ठापाठ गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है। उसमें हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्र, श्यामाचार्य, गुणरत्नाकरसूरि और जगच्चन्द्रसूरीश्वर के प्रतिष्ठाकल्पों का उल्लेख किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के ही आचार दिनकर में प्रतिष्ठाविधि का वड़े बिस्तार से वर्णन किया गया है। ग्रन्थकर्ता वर्धमानसूरि ने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों शाखाओं में शाखाचार का विचार कर आवश्यक में उक्त आचार का ख्यापन किया है। उन्होंने चन्द्रसूरि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनकी लघुतर प्रतिष्ठा विधि को आचार दिनकर में विस्तार से कहा गया है। वर्धमानसूरि ने आर्यनन्दि, क्षपत चंदननन्दि, इन्द्रनन्दि और वज्रस्वामी के प्रतिष्ठाकल्पों का अध्ययन किया था। आचार दिनकर की रचना विक्रम संवत् १४६८ में, कार्तिकी पूर्णिमा को अनन्तपाल के राज्य में जालंधरभूषण नन्दवन नामकपुर में पूर्ण हुई थी।[17]

श्वेताम्बर शाखा का निर्वाण-कलिका नामक ग्रंथ जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसका प्रतिमालक्षण स्पष्ट और सुबोध है। ग्रंथ पादलिप्तसूरि कृत कहा जाता है किन्तु वे पश्चात्कालीन आचार्य थे। निर्वाण कलिका के अतिरिक्त नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार और जिनदत्तसूरि के विवेकाविलास में भी जैन प्रतिमाशास्त्रीय विवरण मिलते हैं।

दिगम्बर शाखा के बोधपाहुड, भावसंग्रह, यशस्तिलकचम्पू, प्रवचनसार, धर्मारत्नाकर आदि ग्रन्थों में जिनपूजा का निर्देश मिलता है। सातवीं शताब्दी ईस्वी में जटासिंहनन्दी द्वारा रचित पौराणिक काव्य वरांगचरित के २२--२३ वें सर्ग में जिनपूजा और अभिषेक का वर्णन है किन्तु उसमें दिक्पालादिक के आवाहन का नामोल्लेख भी नही है। इससे ज्ञात होता है कि जैन पूजा विधान में दिक्पालादिक को पश्चातकाल में १०वी-११वीं शताब्दी के लगभग महत्व दिया गया। सोमदेवसूरि और आशाधर के ग्रन्थों में दिक्पालादिक को वलि प्रदान करने का विधान है। जान पड़ता है कि सोमदेव के समय में दक्षिण भारतीय जैनों में शासन देवताओं की वड़ी प्रतिष्ठा थी। इसी कारण, सोमदेव को अपने उपासकाध्ययन के ध्यान प्रकरण में स्पष्ट उल्लेख करना पड़ा कि तीनों लोकों के दृष्टा जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादिक देवताओं को जो पूजा विधानों में समान रूप से

देखता है, वह नरक में जाता है।[18] सोमदेवसूरि ने स्वीकार किया है कि परमागम में शासन की रक्षा के लिए शासन देवताओं की कल्पना की गयी है। अतः सम्यग्दृष्टि उन्हें पूजा का अंश देकर उनका केवल सम्मान करते हैं।

जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के लिए हरिभद्रसूरि कृत पञ्चवास्तु प्रकरण और ठक्कर फेरू रचित वास्तुसारप्रकरण विशेष उपयोगी ग्रन्थ हैं। जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थकल्प में भी जिन मन्दिरों और जिन विम्बों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

अनेक जैनेतर ग्रंथों में जैन प्रतिमा शास्त्रीय ज्ञान सन्निहित है। गुप्तकालीन मानसार के ५५ वें अध्याय में जैन लक्षण विधान पर इसके रचियता का दृष्टिकोण अनुदार प्रतीत होता है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में जैन प्रतिमाओं के लक्षण बताये गये हैं। अभिलषितार्थ चिन्तामणि (१२ वी शताब्दी), अपराजितपृच्छा (१२ वीं—१३ वी शती), राजवल्भ, दीपार्णव, देवतामूर्तिप्रकरण और रूपमंडन में भी तीर्थंकरों और शासन देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षण बताये गये हैं। आधुनिक काल में, जेम्स बर्जेस, देवदत्त भण्डारकर, बी० सी० भट्टाचार्य, टी० एन० रामचंद्रन, डाक्टर सांकलिया, डाक्टर उमाकान्त परमानन्द शाह, बाबू छोटे लाल जैन प्रभृति विद्वानों ने जैन प्रतिमा शास्त्र विषय अनुसंधानात्मक प्रबन्ध प्रकाशित किये हैं। डाक्टर जिनेन्द्रनाथ शुक्ल, आर० एस० गुप्ते तथा अन्य विद्वानों ने भी अपने प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थों में जैन प्रतिमाशास्त्र विषयक जानकारी सम्मिलित की है। ये सभी ग्रंथ जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के आधारभूत हैं।

संदर्भ संकेत :

१. जिणसिद्धसूरिपाठयसाहूणं जं सुयस्य विहवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजगणविहाणं॥
वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८०

२. वही, ३८१

३. भट्टअकलंककृत प्रतिष्ठाकल्प।

४. वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८५, आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्वार, ६/६३

५. एवंचिरंतमाणं कट्टिमाकट्टिमाण पटिमाणं।
जं कीरइ बहुमाणं ठवणापुज्जहिं तं जाण॥

वसुनन्दि श्रवकाचार, ४४६

६. तिलीयपणत्ती, १/१८.

(शेष पृष्ठ 95 पर)

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की अप्रकाशित हिन्दी टीकाएं

—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

देश में आचार्य कुन्दुकुन्दु के द्विसहस्त्राव्दी वर्ष के उपलक्ष्य में स्थान-स्थान पर समारोह आयोजित किये जा रहे हैं। समस्त जैन समाज एक जुट होकर द्विसहस्त्राव्दी समारोह मनाने में लग गया है। इस समारोह के प्रति न किसी में मतभेद है और न उपेक्षा के भाव हैं। यह एक शुभ लक्षण है और समाज को भावात्मक एकता के सूत्र में बांधने का एक अच्छा अवसर है।

वैसे तो आचार्य कुन्दकुन्द का नाम ही मंगल स्वरूप है। हम प्रतिदिन उनके नाम का स्मरण करते हैं। किसी भी शुभ कार्य में उनके नाम को याद किया जाता है क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन ही विलक्षण घटनाओं से परिपूर्ण रहा है। उन्होंने दिगम्बर धर्म को चौबीस तीर्थंकरों के प्राचीनतम धर्म के रूप में सिद्ध किया। विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के समवसरण में जाना ही उनके जीवन का अद्‌भुत कार्य रहा जिसका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। इसलिए उनका नाम ही समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए पुण्य स्मरण रूप है।

आचार्य कुन्दकुन्द का सबसे विलक्षण उपहार साहित्य है जो विगत दो हजार वर्षों से सर्वाधिक चर्चित रहा है। उनके समयसार, प्रवचनसार जैसे ग्रंथों के नाम उनके बाद होने वाले सभी आचार्यो, साधुओं, भट्टारकों, पंडितों, कवियों, टीकाकारों एवं स्वाध्याय प्रेमियों को याद रहे हैं और यही कारण है उनका स्वाध्याय, पठन-पाठन, लेखन-लिखावट, टीकाकरण, भाषाकरण सभी कार्य अबाध गति से होते रहे और आज उनका ढेर सारा साहित्य पाण्डुलिपियों एवं छपे हुए ग्रंथों के रूप में उपलब्ध हो रहा है। उनके ग्रंथों में समयसार सबसे उत्तम ग्रंथ माना जाता है। इसलिए समयसार का स्वाध्याय, प्रवचन एवं मनन चिन्तन प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक माना गया है। यही कारण है कि स्वाध्याय प्रेमी अपने आप को समयसारी कहलाने में गौरव अनुभव करने लगे। आचार्य अमृत-

चन्द, आचार्य जयसेन जैसे धाकड़ (प्रभावशाली) आचार्यों ने उन पर टीकाएं लिखकर उनको लोकप्रिय बनाने में सर्वाधिक योग दिया। इन टीकाओं के कारण समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय जैसे ग्रंथों का और भी प्रचार-प्रसार हो गया और इन टीकाओं के आधार पर उनका धड़ल्ले से स्वाध्याय होने लगा। यही नहीं प्रवचनकर्त्ताओं ने आत्मा-परमात्मा, निश्चय-व्यवहार, उपादान निमित्त, भेद-विज्ञान जैसे विषयों को अपने प्रवचनों का मुख्य आधार बनाया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि 84 पाहुड ग्रंथों की रचना की थी लेकिन उनमें से अब तक 23 पाहुड ग्रंथ मिल सके हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैः—

1. समयसार	2. प्रवचनसार
3. पंचास्तिकाय	4. नियमसार
5. वारस-अणुवेक्खा	6. दंसण पाहुण
7. चारित्त पाहुड	8. सुत्त पाहुड
9. बोध पाहुड	10. भाव पहुड
11. मोक्ख पाहुड	12. लिंग पाहुड
13. शील पाहुड	14. रयणसार
15. सिद्ध भक्ति	16. श्रुत भक्ति
17. चारित्त भक्ति	18. योगि भक्ति
19. आचार्य भक्ति	20. निर्माण भक्ति
21. परमेष्ठि भक्ति	22. थोस्सामि थुदी
23. मूलाचार	

उक्त 23 ग्रंथों के अतिरिक्त तिरुक्कुरल को भी कुछ विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द की रचना मानते हैं। तथा रयणसार एवं मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द की रचना नहीं मानते हैं।

प्रवचनसार

प्रवचनसार आचर्य कुन्दकुन्द की महत्वपूर्ण कृति के रूप में चर्चित है। यह समयसार के बाद की रचना है तथा सीमंधर स्वामी के समवसरण से लौटने के पश्चात् उनके प्रवचनों के सार के रूप में लिखी गई कृति है इसलिए उसका नाम भी प्रवचनसार रखा गया प्रतीत होता है। एक ओर जहां समयसार की भाषा शौरसैनी प्राकृत है वहां प्रवचनसार की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है लेकिन पिशल ने प्रवचनसार की भाषा को शोरसैनी प्राकृत लिखा है। इसलिए इसका निर्माण महाराष्ट्र के किसी भाग में हुआ होगा। ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

प्रवचनसार को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रुतस्कंध में ज्ञान की चर्चा की गई है इसलिए वह ज्ञानाधिकार के नाम से जाना जाता है। दूसरे श्रुतस्कंध में ज्ञेय तत्व की चर्चा है इसलिए उसे ज्ञेयाधिकार नाम दिया गया है। तीसरे श्रुतस्कंध में चारित्र तत्त्व का वर्णन मिलता है इसलिए उसे चरित्राधिकार नाम से संबोधित किया गया है।

पांडुलिपियां :

राजस्थान एवं देश के अन्य प्रदेशों के शास्त्र भण्डारों में प्रवचनसार की सैकड़ों पांडुलिपियां सुरक्षित है। लेकिन हमारी स्वाध्याय के प्रति विशेष रूचि नही होने के कारण प्रवचनसार विशेष लोकप्रिय नही बन सका। पाश्चात्य विद्वान बूलर, डॉ० जैकोबी, न्यूमैन पिशल को प्रवनसार के अस्तित्व का बहुत बाद में पता चला। लेकिन जब उन्होंने इस कृति को पढ़ा तो वे इसके विषय, भाषा एवं शैली को देखकर आश्चर्य करने लगे।

मूल गाथाएं :

प्रवचनसार की मूल गाथाओं में भी अमृतचन्द्र एवं जयसेन एक मत नही हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार की अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका 275 गाथाओं पर लिखी है जबकि आचार्य जयसेन ने 311 गाथाओ पर टीका लिखी है। दोनों का तीनों अधिकारों के अनुसार निम्न प्रकार गाथाएं हैं—

	अमृतचन्द्र	जयसेन
ज्ञान तत्त्व	92	101
ज्ञेय तत्त्व	108	113
चारित्र तत्त्व	75	97
योग	275	311

इस प्रकार दोनों आचार्यो की टीकाओं में 36 गाथाओं का अन्तर है। कन्नड़ कवि बालचन्द्र एवं संस्कृत कवि प्रभाचन्द्र दोनों ही आचार्य जयसेन के मत का समर्थन करते हैं। डॉ० उपाध्याय के अनुसार ये गाथायें अतिरिक्त गाथायें हैं यदि ये न भी रहें तो भी प्रवचनसार की मूल भावना में कोई अन्तर नही आता।

समयसार की तरह प्रवचनसार पर भी संस्कृत और हिन्दी में पर्याप्त संख्या में टीकाएं लिखीं गई हैं। जिससे इस ग्रंथ की भी लोकप्रियता का बोध होता है।

संस्कृत टीकाओं का परिचय निम्न प्रकार है—

1—आचार्य अमृतचन्द्र	तत्त्वदीपिका टीका
2—आचार्य जयसेन	तात्पर्यवृत्ति
3—प्रभाचन्द्र	सरोजभास्कर
4—मल्लिषेण	संस्कृत टीका।

एक प्रभाचन्द्र और भी हुए थे जिन्होंने देहली में फिरोजशाह तुगलक के दरबार में राघोचेतन से विवाद किया था और जैन धर्म की महती प्रभावना की थी। ये 14वीं शताब्दी में भट्टारक थे।

हिन्दी टीकाएं :

संस्कृत टीकाओं के समान प्रवचनसार पर हिन्दी टीकाएं भी पर्याप्त संख्या में मिलती हैं। अब तक निम्न हिन्दी टीकाओं की जानकारी मिल चुकी है—

पाण्डे हेमराज	बालावबोध भाषा टीका	रचना	संवत्	1709
,, ,,	प्रवचनसार पद्य			
जोधराज गोदीका	प्रवचनसार	,,	,,	1726
पं० देवीदास	प्रवचन भाषा	,,	,,	1824
वृन्दावनदास	प्रवचनसार	,,	,,	1905

प्रवनसार पर अब तक उक्त पांच टीकाएं अथवा उसका हिन्दी रूपान्तर अब तक हमें प्राप्त हो चुका है। इसमें पाण्डे हेमराज प्रथम पंडित थे जिन्होने प्रवचनसार पर हिन्दी गद्य टीका एवं पद्यानुवाद दोनों ही लिखने का श्रेय प्राप्त है।

1. प्रवचनसार भाषा (गद्य) :

कविवर बुलाकीदास ने अपने पांडवपुराण में हेमराज का परिचय देते समय जिन दो ग्रथों की भाषा लिखने का उल्लेख किया है उनमें प्रवचनसार भाषा का नाम सर्वप्रथम लिखा है—

जिन आगम अनुसार तैं, भाषा प्रवचनसार।
पंचअस्ति काया अपर, कीनैं सुगम विचार।। 35 ।।

(पांडवपुराराण, प्रथम प्रभाव)

इंससे ज्ञात होता है कि इस समय हेमराज का प्रवचनसार भाषा अत्यधिक लोकप्रिय कृति मानी जाने लगी थी। महाकवि बनारसीदास द्वारा समयसार नाटक लिखने के पश्चात आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत रचनाओं पर जिस वेग से हिन्दी टीका लिखी जाने लगी थी प्रस्तुत प्रवचनसार भाषा भी उसी का एक सुपरिणाम है। यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।

2. प्रवचनसार भाषा (पद्य) :

प्रवचनसार की हिन्दी गद्य टीका की ही अभी तक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रंथों एवं शोध निबंधों में उल्लेख किया है लेकिन इनकी प्रवचनसार पर पद्य टीका का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। पं० परमानन्द जी शास्त्री जैसे विद्वान ने भी हेमराज की गद्य वाली टीका का ही नामोल्लेख किया है लेकिन सौभाग्य से मुझे इसकी एक पद्य टीका वाली पांडुलिपि उपलब्ध हुई है जिसका परिचय निम्न प्रकार है—

हेमराज ने प्रवचनसार का पद्यानुवाद भी इसी दिन समाप्त किया जिस दिन उसकी गद्य टीका पूर्ण की थी जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रवचनसार पर गद्य-पद्य टीका एक ही साथ की थी। लेकिन जब उसकी गद्य टीका की पचासों पांडुलिपियां उपलब्ध होती हैं तब प्रवचनसार पद्य टीका की अभी तक पांडुलिपि उपलब्ध न होवें, यह बात समझना कठिन लगता है। इसका उत्तर एक यह भी दिया जा सकता है कि खण्डेलवाल जातीय दूसरे हेमराज ने भी पद्यानुवाद लिखा है इसलिए आगरा निवासी हेमराज के पद्यानुवाद को कम लोकप्रियता प्राप्त हो सकी।

पद्य टीका में 438 पद्य हैं जिसमें अंतिम 11 पद्य तो वे ही हैं जो कवि ने प्रवचनसार गद्य टीका के अन्त में लिखे हैं। प्रस्तुत कृति का प्रारम्भिक अंश निम्न प्रकार है—

छप्पय—स्वयं सिद्ध करतार करै निज करम सरम निधि,
आपै करण स्वरूप होय साधन साधे विधि।
संमदछना धरै आपको आपै समप्पै,
अपाराव आपसे आपकौं कर थिर थप्पै।
अधकरण होय आधा निज वरजै पूरण ब्रह्म पद,
षट् निधि द्वारिकामय विधि रहित विविध येक अजर अमर।

दोहा—महातत्त्व महनीय यह, महाधाम गुणधाम।
चिदानन्द परमात्मा, बन्दू रमता राम।2।
कुनय दमन सुरवनि अवनि, रमिनि स्यात पद शुद्ध।
जिनवाणी मानी मुनिय, घट में करोहू सुबुद्धि।3।

चोपाई—पंच इष्ट पद बंदौ, सत्यरूप गुर गुण अभिनंदौ।
प्रवचन ग्रंथ की टीका, बालबोध भाषा सयनीका।4।

प्रवचनसार के तीन अधिकारों में से प्रथम अधिकार में 232 पद्य, तथा शेष

206 पद्यों में दूसरा एवं तीसरा अधिकार है।

भाषा अत्यधिक सरल, सुबोध एवं मधुर है। प्रवचनसार के गूढ़ विषय को कवि ने बहुत सरल शब्दों में समझाया है। कोई भी पाठक उसे हृदयंगम कर सकता है।

प्रवचनसार पद्य टीका की एक पांडुलिपि जयपुर के बधीचन्द जी के शास्त्र भण्डार में संग्रहित है। इसमें 34 पद्य हैं तथा अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

'इति श्री प्रवचनसार भाषा पांडे हेमराज कृत सम्पूर्ण। लिखितं दलसुख, लुहाड़िया लिखी सवाई जयपुर मध्ये लिखी।'

प्रवचनसार-जोधराज गोदीका :

जोधराज गोदीका सांगानेर के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम अमरा-भौंसा था जो तेरहपंथ के प्रमुख संस्थापक थे। जोधराज बड़े भारी कवि थे तथा प्रवचनसार सहित कितने ही ग्रंथों के रचयिता थे। सम्यक्त्व कौमुदी उनकी प्रमुख रचना मानी जाती है।

इन्होंने संवत् 1726 में प्रवचनसार भाषा की रचना की थी। ग्रंथ की प्रशस्ति में कवि ने लिखा है कि प्रवचनसार की रचना सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी। फिर उस पर अमृतचन्द ने टीका लिखी। अमृतचन्द की टीका को देखकर हेमराज ने हिन्दी में प्रवचनसार का गद्य-पद्यानुवाद किया। इसके पश्चात जोधराज ने संवत् 1726 में उसे फिर हिन्दी पद्य में लिखकर एक और रचना में अभिवृद्धि की थी। प्रवचनसार का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

प्रारंभिक मंगलाचरण—

परम ज्योति परमातमा नमों सुद्ध परधान।
एक अनुपम जोध कहि सिव दायक सुखधान॥

प्रशस्ति—

कुन्दकुन्द मुनिराज वृत पूरन भये बखान।
अब कवि को ब्यवर न कहों, सुनहु भाविक धरि कॉन॥
मूल ग्रंथ करता भये, कुन्दकुन्द मुनिराय।
तिन प्राकृत गाथा करी, प्रथम महासुख पाय॥
तिन ऊपर टीका करी, अमृतचन्द सुखरूप।
सहसकृत अति ही सुगम, पंडित पूज्य अनूप॥
ता टीका कों देखि कें, हेमराज सुखधाम।
करी बचनिका अति सुगम, तत्त्व दीपिका नाम॥

देख वचनिका हर्रषियौ, जोधराज कविनाम ।
तब मन में इह धारिके, कीयें कवित्त सुखधाम ।।
सत्रह से छवीस सुभ, विक्रम साक प्रमान ।
अरु भार्दो सुदि पंचमी, पूरन ग्रंथ बखान ।।
सुनय धरम हि सुख करन, सव भूपनिसिर भूप ।
मान वंस जयस्यंध सुव, रामस्यंध सुख रूप ।।
ताकै राज सु चैन सौं. कीयो ग्रंथ यह जोध ।
संगानेरि सुथान में, हिरदे धारि सुबोध ।।
जौ कहूं मेरी चूक हुवै, लीज्यों सन्त सुधारि ।
वरणछंद कौं देखि कें, गुण औगुण सुविचारि ।।
यहां मिश्र हरिनाथ जी, रहौ सदा सुखरूप ।
ताकी संगति जो करी, पायो काव्यसरूप ।।

सवैया—

कोई देवी खेत्तपाल वीद्यासनिमांनत है,
केई सती पित्र सीतलां सी कहै मेरा है ।
कोइ कहै सावलो कबीर पद कोई गावैं,
केई दादू पंथी होय परे मोह घेरा है ।
कोई ख्वाजै परमान कोइ पंथी नानिग के,
केई कहै महाबाहु महारूद्र चेरा है ।
यांही बारा पंथ में भरमि रहयौं सबं लोक,
कहै जोध अहो जिन तेरापंथी तेरा है ।

इति श्री प्रवचनसार सिद्धांते जौधराज गोदीका विरचिते कवि वर्णन नाम द्वादश प्रभाव । संवत 1846 का कार्तिक सुदी 12 शुक्रवार सवपई जयपुर में लिख्यौ अमल महाराजाधिराज श्री सवाई प्रतापसिह जी का में पुस्तक जोधराज गोदीका की है संवत 1726 को लिख्यौ तीसु लिखी पुस्तक जीवणराम गोथा रेणी का को । लिखतं कंहीराम वाकलीवाल संपतरामगोधा ।

प्रवचनसार भाषा टीका—देवीदास :

17वीं शताब्दी में समयसार के समान प्रवचनसार का भाषानुवाद भी तेजी के साथ होने लगा । वनारसीदास ने जिस प्रकार समयसार को पद्यों में गूंथ दिया इसी तरह पं० हेमराज ने प्रवचनसार को हिन्दी गद्य एवं पद्य दोनों में अनुदित कर अध्यात्म जगत का महान उपकार किया । बनारसीदास के समयसार की

रचना के 16 वर्ष बाद प्रवचनसार पर विशद एवं गम्भीर अर्थ की द्योतक भाषा टीकाएं लिखी। पाण्डे हेमराज एवं पं० जोधराज गोदीका के पश्चात पं० देवीदास इस क्षेत्र में आगे आए और उन्होंने संवत 1824 सावन सुदी 8 सोमवार को दगौडो ग्राम में प्रवचनसार की हिन्दी पद्य में टीका लिखी।

पं० देवीदास दुगौडो ग्राम के निवासी थे। उनके पिता संतोषमनि थे। वे गोलालारें में खरौवा वंश के श्रावक थे। उस समय तक गोलालारे प्रमुख जाति थी और उसमें खरौवा एक वंश अथवा गोत्र था। लेकिन कालान्तर में यह खरौवा गोत्र स्वतंत्र जाति बन गई जिसको 84 जैन जातियों में गिना जाने लगा। कवि ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

ओडछे को देसु जहां के सुहटे सिंध राजा।
दुगौडो सुग्राम जामैं जैनी की धुकार है।
तहां के सुवासी संतोषमनि सुगोलालारे,
खरोवा सुवेश जाके धर्म विवहार है।
तिन्हीं के सुपुत्र देवीदास तिन्हीं पूरौ करे,
ग्रंथ यह नाम याको प्रवचनसार है।
संवतु अठारासैं सुचौबीस की सु साल,
सावन सुदी सु आठें परचौ सोमवार है। ।10 पत्र 104 पर।

इसके पूर्व कवि ने प्रवचनसार के इतिहास पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला

प्रवचनसार यो गरंथ जाके, करता कुन्दकुन्द मुनिराज भये प्राकृत के।
जाको शब्द कठिन करिके, सुसंस्कृत कीनौ अमृतचंद ने सुधारी महाव्रत के।
तिन्हीं की परंपरा सौं पांडे हेमराज जी ने बालबोध टीका देखि
कहयो सोई मत के।
जाको भेद पाई देवीदास मुनि भाष धरयो।
माखन तैं होत जैसे करतार धृत के। 7। पत्र सं० 95-96

चौपाई

प्रवचनसार कौसु यह टीका, भाषा बालबोध अति नीका।
जाको पढत सुनत सुख पायौ, करि सु कवित्त बंध सुमुझायो। 8।

दोहरा

अगम अपार अथांह है यह गरंथ गुणवंत।
मैं मतिहीन कहा कहों, गणधर लहयौ न अंत। 9।

पूरे प्रवचनसार में 419 छंद हैं जिनका विभाजन निम्न प्रकार है—

सवैया इकतीसा	143
कवित्त छन्द	63
छप्पय	44
तेईसा कवित्त	41
चौपाई	36
दोहरा	80
कौडरी	14
अरिल्ल	8
गीतिका	3
साकिनों	1
सोरठा	1

लेकिन छन्दों की उक्त संख्या 434 आती है जो कवि द्वारा प्रयुक्त छन्दों से मेल नहीं खाती। छन्द निम्न प्रकार है—

एकु सैसु तेतालीस कहे इकतीसा सवै त्रैसठि,
कवित्त छन्द छप्पय चवालिस हैं।
तेईसा कवित्त जेसु थरै इकतालिस जे,
चौपही सुछन्द तेसु सात उनतीस है।
दोहरा सु असी कोडरीसु जे चतुर्दश है;
आठ हैं अरिल्ल तीन गीतकासु दीस है।
साकिनी सु एक एक सोरठा जुरे समस्तछंद,
जाति भेद चारि सैं सुए उनीस हैं।

कवि ने आगे लिखा है कि यदि 32 अक्षरों का अनुष्टप माना जावै तो ग्रंथ की श्लोक संख्या 1500 होगी।

प्रारम्भ में वर्तमान 24 तीर्थंकरों की छंद में स्तुति, भूत एवं भविष्य में होने वाले तीर्थंकरों की वंदना, विरहमान बीस तीर्थंकरों की स्तुति, पंचपमेष्ठियों की स्तुति, ग्रंथ रचने में लघुता, आदि वर्णन के पश्चात कवि ने प्रवचनसार के अधिकारों का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

महाग्यान कौ सु अधिकार सोहै प्रथम ही,
अधिकार दूसरौ अतिन्द्री सुख भोग को।
ग्यान तत्व दख सामान्य गेय अधिकार,
आचर्न कौमुदार जती कीय रोग को।

मोख पंथ धारों सुद्धोपयोगी को अधिकार,
और अधिकार भारी सुत्र उपयोग को।
देवीदास कहै मैं तो सु थोरी वुद्धि सों वखानों,
ग्रंथ यो खजानों जानों चरनान जोग को। 38। पत्र।

दोहरा—

पंच रत्न सिद्धान्त को मुकुट अन्त जे और,
तिन्ह समेत अधिकार दस सुनो भव्य सुख ठौर। 39।

कवि ने प्रत्येक गाथा का सारगर्भित हिन्दी पद्य में अर्थ लिखा है जो अत्यधिक सराहनीय है। प्रस्तुत हिन्दी पद्य टीका अभी तक अप्रकाशित है तथा इस द्विसहस्त्राव्दी वर्ष में प्रकाशन योग्य है। इस ग्रंथ की एक मात्र पांण्डुलिपि जयपुर के तेरहपंथीवड़े मंदिर में संग्रहित है।

प्रवचनसार भाषा टीका—वृन्दावनदास

प्रवचनसार पर हिन्दी भापा टीका लिखने वालों में पं० हेमराज, पं० जोधराज, पं० देवीदास का नाम आता है। वृन्दावनदास का नाम जैन जगत में वहुत प्रसिद्ध रहा है। विगत 200 वर्षो से उनके द्वारा रचित चौवीसतीर्थंकर पूजा समस्त जैन समाज बहुत लोकप्रिय है और जो भी जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है वह भगवन के साथ वृन्दावन का नाम भी लेता है। उनकी संकट-हरण विनती हजारों श्रावक श्राविकाओं को कंठस्थ याद है।

प्रवचनसार भापा वृन्दावन कवि की प्रमुख रचना है। इसमे कवि ने गाथाओं का जो हिन्दी पद्य में अर्थान्तर किया है वह अत्यधिक सरल एवं समझ में आने वाली है। यहां हम एक गाथा पाठकों के अवलोकनार्थ उद्धत कर रहे हैं—

प्राकृत—जो णवि जाणदि जुगवं, अत्थे विक्कायौ तिहुवणत्थे
णादुंसस्सण सक्कं सउज्जयं दव्व मे मं वा ॥ 49 ॥

संस्कृत—यो नवि जानातिजुगयत पदार्थनि त्रैकालिवानि त्रिभुवनस्थान
ज्ञातुं तस्य न सक्यं सपपर्य द्रव्य में कं वा ॥

मनहरण छन्द

तीनों लोक माहि जे पदारथ विराजै तिहुं काल के अनंत
नंत जासु में विभेद है,
तिनको प्रत्यक्ष एक समैं ही मैं एकै वार, जो न जानि सकै

स्वच्छ अन्तर उछेद है।
सो न एक द्रव्य हू को सर्व परजाय जुत जानिवे की शक्ति
धरै ऐसे भणै वेद है,
तातै ज्ञान छायिक की शक्ति व्यक्त, वृन्दावन सोई लखै
आपापर सर्व भेर छेदे है।

कवि वृन्दावन ने प्रवचनसार भाषा को संवत 1907, जेठ महीने में लिखना प्रारम्भ किया और संवत् 1905 वैशाख शुक्ला तृतीय को इसे पूरा किया अर्थात् साढ़े ग्यारह महीने में एक महत्वपूर्ण ग्रंथ का हिन्दी भाषानुवाद करने में सफलता प्राप्त की।

चारि अधिक उन ईश सो संमत विक्रम मय।
जेठ महीने में कियौ पुनि आरम्भ अनूप। 15।
पांच अधिक उनईश सौ घोष तीज वैशाख।
यह रचना पूरन भई पूजी मन अभिलाष। 16।

वृन्दावन दास बनारस के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम धर्मचन्द था, जो गोयल गोत्रीय अग्रवाल जाति के श्रावक थे। इनके एक भाई एवं दो पुत्र थे। भाई का नाम महावीर एवं पुत्रों का नाम अजितदास एवं शिखरचन्द था। उदैराज समेचू ने इनके ग्रंथ प्रवचनसार का संपादन किया था। जिसका कवि ने सम्मान के साथ उल्लेख किया है। प्रवचन सार भाषा का आदि-अन्त भाग निम्न-प्रकार है—

ऑम नमो अनेकांत वादिने जिनाय। अथ श्री प्रवचनसार परमागम। अध्यात्म विद्या श्रीयुत कुन्दकुन्दाचार्य कृत मूल प्राकृत गाथा। ताकी संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द आचार्य करी। ताकी देश भाषा वचनिका पांडे हेमराज नै रची है। ताही के अनुसार सो वृन्दावन छंद लिखे है। तहां प्रथम मंगलाचरण इष्ट देव की स्तुति—छप्पै छन्द—

सिद्ध सदन बुद्धि वदन मदन मद कदन वहन रज,
लवधि लसन्त अनन्त वासगुणवंत संत अज।
दुविधि धर्मनिधि कथन अविधि तम मथन दिवाकर,
विधन निधन करतार सकल सुख उदय सुधाधर।
शत इदे वृदे पद वंदि भवि दंद फंद निकंद कर
अरि शेष मौरन मग पोष निरदोष जयति जिनराज वर।

ग्रंथ प्रशस्ति विस्तृत है लेकिन वह कवि के जीवन वृत्त को जानने के लिए उपयोगी है इसलिए हम यहां पूरी प्रशस्ति दे रहे हैं—

छप्पय—जो यह शासन भली भाँति जानैं भवि प्राणी,
श्रावक मुनि आचारन जासु मथि सुगुरू वरवांनी।
सो थोरे ही कालमांहि शुद्धातम पावै,
द्वादशांक को सार भूत जो तत्व कहावै।
मुनि कुन्दकुन्द जयवंत जिन परमागम प्रगट किय।
वृन्दावन को भव उदधि तै दे अवलम्ब उधार लिय। 95।

छप्पै— द्वादशांग जुत सिंध मथन करी रतन निकासा।
स्वपर भेद विज्ञान शुद्ध चारिथ प्रकासा।
सो इस प्रवचनसार माँहि गुरू वरणन कीना।
अध्यात्म को मूल लखहिं अनुभवी प्रवीना।
मुनि कुन्दकुन्द कृत मूल जु सु अमृतचन्द्र टीका करी।
तसु हेमराज ने वचनिका रची अध्यात्म रस भरी। 97।

छंद मनहरन—दो सौ पचिहत्तर पराक्रम की गाथा माँहि
कुन्दकुन्द स्वामी रची प्रवचनसार हैं।
अध्यात्म वांनी स्याद्वाद की निशानी
जाते स्वपर प्रकाश बोध होत निरधार है।
निकट सुभव्यही के भाव नौन माँहि यांकी
दीपशिखा जगै भगै मोह अन्धकार है।
मुख्य फल मोख औ अमुख्य शक्र चक्र पद
वृन्दावन होत अनुक्रम भयवार है। 98।

अथ कवि व्यवस्था नाम कुलादि—

अग्रवाल कुलगोयल गोत वृन्दावन धरमी।
धरमचन्द जसुपिता सितावो माता परगी।
तिन निज मत मितवाल स्याल सम छंद बनाये।
काशी नगर मझरि सुपर हित हेत सुभाये।
प्रिय उदयराज उपगार तै अब रचना पूरन भई।
हीनाधिक सोध सुधारियो जे सज्जन समरस मई। 99।

अथ व्यवस्था कथन—मनहरण छन्द—

वाराणसी आरा ताके बीचि बसै वारा सुरसरी
के किनारा तहाँ जनम हमारा है।
ठारै अडताल माँहि सेत चौबे सोम पुष्प।
कन्या लगन भानु अंश सत्ताईस धारा है।
साँठि माँहि कासी आए तहां सतसंग पाए।
जैनधर्म मर्म लहि मर्म भाव रास है।
शैली सुखदाई भाई काशीनाथ आदि जहाँ।
अध्यात्म वाणी की अखंड बहै धारा है।

छप्पय—

प्रथमही आढतराम दया मौर्य चित लाये।
सेठी श्री सुखलाल जीय सौ आनि मिलाये।
तिनयें श्री जिनधर्म मर्म हमने पहिचानै।
पीछे वकसू लाल मिले मोहि रित्र सयाँने।
अवलोके नाटक त्रयी औरहु ग्रंथ अनेक जब।
तब कविताई परि रूचि वढ़ी रचौ छंद भवि वृन्द अब।101।
संवत् विक्रम भूप ठार सो श्रेसठि माँहि, यह सब बालक बन्यो
मिली सत संगत छाँती।
तब श्री प्रवचनसार ग्रंथ कौ छंद बनायो
यही आस उर रही जासु तैं निज निधि पावै
तब छंद रची पूरण करी चिन्तन रूची तब पुनि रची।
सो ऊ नरू चरितव अन रचि अनेकांत रस सौ यची।102।
इति श्री अध्यात्म सम्पूर्ण।

दोहा—यामैं हीनधिक निरखि मूल ग्रंथ को देखि।
शुद्धि कीजिए सुजन जन, व्याल बुद्धि मम पेषि। 103।
यह मुनि शुभ चारित्र को पूर्ण भयो अधिकार।
सौ जयवंत रहौ सदा, ससि सूरज उनिहार।

अथ कवि वंसावली लिख्यते। छंद कवित्त मात्रा 30॥

मार्ग शीर्ष गत दोष और पन्द्रह अनुमानो
नारायण विच चन्द्र जनि औ सतरह जानौ।
इसी बीच हरिवंशलाल बाबा गृह जीये।
नाम सहारूसाह साह जूके कहलाये। 106।

बाबा हीरानन्द साह सन्दर सुत तिनके
पंच पुत्र धन धर्मदान गुण जुत थे इनके।
प्रथमे राजाराम बना फिर अमैराज सुनु
उदैराज उत्तम सुभाव आनन्द मूर्ति गुनु। 186।
भीजराज चौथ कह्यौ जोगराज पुनि जानियौ।
इनि पितु लग काशी निवास अचल मानियं।
अब बाबा खुसिहालचंद सुतु का सुनु बरनन
सीताराम सुग्यानंवान वंदौ तिन चरनन। 107।
ददा हमारे लाल जीवो कुल औगुण खंटित।
तिन सुत धर्मचंद मो पितु सब सुभ जण पंटित।
तिनको दास कहाय नाम मो वृन्दावन है।
एक भ्रात औ दोय पुत्र मोको यह जन है। 108।
महावीर है भ्रात नाम सो छोटा जानो।
ज्येष्ठ पुत्र को नाम अजित इमि कटि परिमानो।
मो लघु सुत है गिरवर चंद सुन्दर सुते जेष्ठ के।
इमि परिपाटी जानिये कह्यौ नाम लघु श्रेष्ठ को। 109।
मगशिर सित तिथि तैरसिका मौमै तब जानो।
विक्रमाब्द गत सतरह सै नव विदित सुजानो। 110।

आगे यह श्री प्रवनसार जी की भाषा छंद बंध रची गई है जिसमें जीन-जीन साधर्मी भाई का उपकार है सो लिखि कर संमत् मिति मुधा लिखिकैं समाप्त करै है।

पाहुड़ी छंद

सम्मत चौरांनू मैं सुआय, औरे ते परमेष्टी सहाय।
अध्यातम रंग पगे प्रवीण, कविता मैं मन निश धौ शलीन।
सज्जन तौं गुण गुरवैं गम्भीर, कुल अग्रवाल सुविशाल धीर।
ते मम उपकारी प्रथम पर्म, साचे सरधानी विगत मर्म। 112।
भैरव प्रसाद कुल अग्रवाल, जैनी जाती बुध है विशाल।
सोढ़ा मोयं उपकार कीन, लखि भूलि चूकि सो शोध दीन।

छप्पय—

सीताराम पुनीत तात जस मातु हुलासो।
ख्यात लमेचू जैनधर्म कुल विदित प्रकाशो।

तसु कुल कमल दिनंद भ्रात मम उदैराज वरं ।
अध्यात्म रस छन्दे भक्त जिनवर के दिप्पर ।
तै उपकारी हमकौ मिले अब रचना मे भावसौं ।
तब पूरण भयौ गरंथ यह यह वृन्दावन के चावसौं ।114।

दोहा—चारि अधिक उनईशसौ संमत् विक्रम भूप ।
जेठ महीने में कियो, पुनि आरंभ अनूप ।115।
पाँच अधिक उतइशसौ, धोसतीज बैशाख ।
यह रचना पूरण भई, पूजो मन अभिलाश ।116।

इति श्रीमत स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य जी कृत परमागत श्री प्रवचनसार जी की मूलगाथा ताकी संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य जी तै रची। ताकी देश भाषा वचनिका पांडे हेमराज जी ने रची है ताही के अनुसार सौं वृन्दावन अग्रवाल गोयल ग्रोती नै भाषा रीच। तहां यह मुनि नैं शुभ चारित्राधिकार समाप्तं। सर्वंगाथा 275, भाषा के छन्द सर्व 1094 एक हजार चौरानमें भये सौ जैवन्त होः।

इति श्री प्रवचनसार छंद बंध भाषा वृन्दावन जी कृत समाप्त।
श्री वैशाख वदि 2 रविवार संवत् 1927 की सालि 11

प्रस्तुत पांडुलिपि लिखवाने वाले श्रावक का परिचय—
गोपाल के निकट ही, लखकर सहर विशाल ।
सीमंत जियाजी राव जह, करत ताज भुवपाल ।
तहां कचौड़ीमल्ल इक सेठ गोत्र गंगवाल ।
तिन सुत हीरालाल जो धारत धर्म रसाल ।
तिन लिखवायो ग्रंथ यह, प्रवचनसार महान ।
लेखक मौजीलाल पें, महा पुण्य की ख्यानि ।
नित प्रति भवि वाँचौ सुनौ, करि परिणाम उदार ।
प्रापति हू है ज्ञान की, पाप होय सब छारि ।।

(पृष्ठ 46 का शेष)

ठीक इसी भांति बनारसीदास की नारी के पास भी निरन्जनदेव स्वयं प्रकट हुए हैं। उसे इधर-उधर भटकना नहीं पड़ा। अब वह अपने खंजन जैसे नेत्रों से उसे पुलकित होकर देख रही है। उसके आनन्द का ठिकाना नहीं है। वह प्रसन्नता-से गीत गा उठी। पाप और भय स्वतः विलीन हो गए। उसका साजन असाधारण है, कामदेव-सा सुन्दर और सुधारस सा मधुर। उसका आनन्द अनिर्वचनीय है, शाश्वत है—कभी मिटता नहीं, चुकता नहीं। सुहागन को वह अक्षय रूप से प्राप्त हुआ है। □

ईश्वर और आत्मा : जैन दृष्टि

—डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, पटना

ब्राह्मण-परम्परा में जिस प्रकार विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव तथा शिव की उपासना करने वाले शैव कहलाते हैं, उसी प्रकार श्रमण परम्परा में 'जिन' अर्थात् तीर्थंकर के उपासक जैन कहलाते हैं। 'जिन' ने जिस धर्म का उपदेश किया, उस धर्म को जैन धर्म कहते है। जिस परम्परा में ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को प्रधानता प्राप्त है, उसे ब्राह्मण- परम्परा कहा गया है और जिस परम्परा मे श्रम अर्थात् मानवीय पुरुषार्थको प्रमुखता प्राप्त है, वह श्रमण-परम्परा कहलाती है। श्रमण-परम्परा में 'जिन' ईश्वरीय अवतार नही होते, वे तो स्वयं अपने पौरुष से काम, क्रोध आदि विकारों को जीतकर 'जिन' संज्ञा आयत्त करते हैं। इसलिए, 'जिन' का अर्थ ही होता है—जीतने वाला। जिसने आत्मा के विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, वही 'जिन' है। जो 'जिन' बनते हैं, वे हम प्राणियों के ही सदस्य होते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक जीवात्मा अपनी साधनों से परमात्मा बन सकता है।

जीवात्मा और परमात्मा में इतना ही अन्तर होता है कि जीवात्मा अशुद्ध होता है। वह काम, क्रोध आदि विकारों और उनसे उत्पन्न कर्मों से घिरा होता है, परिणामतः उसके स्वाभाविक गुण—अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रकट नहीं हो पाते। जब वह उन कर्मों का नाश कर देता है, तब वही (जीवात्मा) परमात्मा बन जाता है और वीतराग हो जाता है। उसे सबका ज्ञान रहता है और उसके अन्तर्मन से राग और द्वेष का मूलोच्छेद हो जाता है। उस अवस्था में वह (जिन) जो उपदेश देता है, वह (उपदेश) प्रामाणिक होता है। अप्रामाणिकता के दो ही कारण हैं—अज्ञान और राग-द्वेष। मनुष्य या तो अज्ञान से, ज्ञान न होने से नासमझी के कारण गलत बात बोलता है या ज्ञानवान होकर भी किसी से राग और किसी से द्वेष होने कारण विपरीत आचरण करता है।

जैन धर्म, मनुष्य से इतर किसी सर्वज्ञ को ईश्वर न मानकर जीवात्मा का ही

सर्वज्ञ हो सकना स्वीकार करता है। अतः जैन धर्म किसी अलौकिक ईश्वर या स्वयंसिद्ध अपौरुषेय वेदग्रन्थ द्वारा नहीं कहा गया है, वल्कि उस मानव द्वारा कहा गया है, जो कभी सामान्य प्राणी के समान ही अल्पज्ञ और राग-द्वेप से अभिभूत था, किन्तु जिसने अपने पौरुप से प्रयत्न करके अपनी अल्पज्ञता और राग-द्वेप के कारणों से अपनी आत्मा को मुक्त कर लिया और इस तरह वह सर्वज्ञ तथा वीतराग वन गया अतः, जिनत्व को प्राप्त मानव के अनुभवों का सार ही जैन धर्म है।

'धर्म' शव्द के दो अर्थ हैं : एक, वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा जाता है। जैसे : अग्नि का जलाना धर्म है, पानी का शीतलता धर्म है, वायु का वहना धर्म है और आत्मा का चैतन्य धर्म है। दूसरा, आचार या चारित्र को धर्म कहते हैं। इस दूसरे अर्थ को इस प्रकार भी कहा गया है : जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस, अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं। चूंकि, आचार और चारित्र से ही अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, इसलिए चारित्र ही धर्म है। चारित्र या आचार-रूप धर्म केवल चेतन आत्मा में ही पाया जाता है, इसलिए धर्म का सम्वन्ध आत्मा से जुड़ा हुआ है।

प्रत्येक तत्त्वदर्शी धर्मप्रवर्त्तक ने केवल आचार-रूप धर्म का ही उपदेश नहीं किया अपितु वस्तु के स्वभाव रूप धर्म का भी उपदेश किया है, जिसे दर्शन कहा जाता है। इसीलिए, प्रत्येक धर्म का अपना दर्शन या दृष्टि होती है। दर्शन में आत्मा क्या है, परलोक क्या है, विश्व क्या है, ईश्वर क्या है, आदि समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है और धर्म द्वारा आत्मा को परमात्मा वनने का मार्ग वताया जाता है। यद्यपि दर्शन और धर्म, अर्थात् वस्तु-स्वभाव-रूप धर्म और आचार-रूप धर्म दोनों भिन्न विपय हैं, तथापि दोनों मे परस्पर घनिष्ठ सम्वन्ध है। उदाहरणार्थ : जव आचार-रूप धर्म आत्मा को परमात्मा वनने का मार्ग वताता है, तव यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा का स्वभाव क्या है दोनों में अन्तर क्या है और क्यों है ? विचार के अनुसार ही मनुष्य का आचार होता है। जो यह मानता है कि न तो आत्मा है, न ही परलोक है, उसका आचार सदा भोग प्रधान ही रहता है, और इसके विपरीत मान्यता रखने वालों का जीवन और आचार सदा त्याग प्रधान या तपः प्रधान होता है इसी से दर्शन का प्रभाव धर्म पर वड़ा गहरा होता है और एक को समझे विना दूसरे को समझना सम्भव नहीं इसलिए जैन धर्म से 'जिन' देव द्वारा कहा हुआ विचार और आचार दोनों को ही ग्रहण करना चाहिए।

जैनदृष्टि में जीव और आत्मा एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। जीव या आत्मा चैतन्य ज्ञान स्वरूप है। उसकी दो अवस्थाएं होती हैं—अन्तर्मुख और वहिर्मुख जव जीव आन्तरिक आत्मा स्वरूप को ग्रहण करता है, तव उसे दर्शन कहते हैं

और जब वह बाह्य पदार्थ को ग्रहण करता है, तब उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान और दर्शन में मुख्य भेद यह है कि ज्ञान के द्वारा जिस प्रकार घट; पट आदि रूप से वस्तु की व्यवस्था होती है, उस प्रकार दर्शन के द्वारा नही होती। जीव के चैतन्यात्मक होने का आशय है कि जीव ज्ञान-दर्शनात्मक है। ज्ञान और दर्शन जीव या आत्मा के गुण या स्वभाव हैं। कोई भी जीव इन दोनों के बिना नहीं रह सकता। इसीलिए, वनस्पति जीव से सिद्ध पुरुषों तक में न्यूनाधिक रूप से ज्ञान की सत्ता अवश्य रहती है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा के साथ ज्ञान का नित्य साहचर्य-सम्बन्ध रहता है।

प्रत्येक आत्मा अपने उत्थान और पतन का स्वयं उत्तरदायी है। वह अपने कार्यों से ही बद्ध या मुक्त होती है। भिखारी से भगवान बनने की शक्ति स्वयं उसमें ही निहित है, इसलिए वह स्वयं प्रभु या समर्थ है। आत्मा या जीव स्वयं अपने कर्मो का कर्त्ता है और स्वयं ही अपने कर्मफलों का भोक्ता भी है। जैन दृष्टि में आत्मा को शरीर प्रमाण माना गया है। जैसे दीपक छोटे या बड़े जिस स्थान में रखा जाता है, तदनुसार उसका प्रकाश सिकुड़ या फैल जाता हैं, वैसे ही आत्मा भी यथाप्राप्त छोटे या बड़े शरीर के आकार का हो जाता है। संकोच और विस्तार आत्मा का सहज गुण है। आत्मा को शरीर प्रमाण मानकर जैन दार्शनिकों ने आत्मा के एकत्व या व्यापकत्व का खण्डन किया है।

जैन दृष्टि से जीव या आत्मा के दो भेद हैं—संसारी आत्मा और मुक्तात्मा, कर्म बन्धन से आवद्ध जो जीव एकगति से दूसरी गति में जन्म लेते और मरते हैं, वे संसारी हैं और जो कर्मवन्धन से छूट चुके हैं, वे मुक्त हैं। मुक्त आत्मा में कोई भेद नहीं होता। सभी मुक्तात्माएं समान गुण-धर्म वाली होती हैं, किन्तु संसारी आत्मा के देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी आदि भेद होते है। जैनधर्म के अनुसार, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि के साथ ही पृथ्वी (मिट्टी-पर्वत) जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी आत्मा का निवास है।

जैन धर्म में मानव से ऊपर किसी सर्वशक्तिमान सत्ता या ईश्वर का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है। जैन अवधारणा यह है कि कोई सर्वद्रष्टा या सर्वज्ञ सदा से ही कर्मों से अछूता हो नहीं सकता क्योंकि बिना उपाय या पुरुषार्थ के उसका सिद्ध या मुक्त होना सम्भव नहीं है। ब्राह्मण-परम्परा में ईश्वर को अनादि मानने के कारण उसे सदा कर्मो से अछूता माना गया और चूंकि वह सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता है, इसलिए अनादि माना गया है। किन्तु जैनधर्म किसी को इस विश्व का रचयिता नहीं मानता, और इसीलिए वह किसी एक अनादिसिद्ध परमात्मा की सत्ता से इनकार करता है।

जैनदृष्टि से ईश्वर एक नहीं, अनेक हैं, असंख्य है। क्योंकि, जैनसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिए हुए मुक्त हो सकता है। आज तक ऐसी अनन्त आत्माएं या जीव मुक्त हो चुके हैं और आगे भी मुक्त होंगे। ये मुक्त जीव ही जैन धर्म के ईश्वर हैं। इन्ही मुक्तात्माओं में कुछ, जिन्होंने मुक्त होने के पहले या जीवन्मुक्त स्थिति में संसार को मुक्ति का मार्ग वताया था, जैनदृष्टि में ईश्वर तीर्थंकर हैं। जीवनन्मुक्त को जैन परिभाषा में 'अदेह केवली' और मुक्त को 'सदेह केवली' कहा जाता है।

तीर्थंकर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अन्नतसुख और अनन्तवीर्य के धारक होते हैं। ये साक्षात् भगवान या ईश्वर होते हैं। जैन वाङ्मय में इनके ऐश्वर्य का प्रचुर वर्णन मिलता है। ये जन्म से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान से सम्पन्न होते हैं। जन्म से ही इनका शरीर अपूर्व कान्तिमान होता है। इनके निःश्वास में अपूर्व सुगन्धित होती है। इनके शरीर का रक्त और मांस, दूध की भांति उज्जवल होता है। केवलज्ञान प्राप्त करने, अर्थात्, 'अर्हत्-पद' प्राप्त करलेने के वाद उनका उपदेश सुनने के लिए पशु-पक्षी-तक उनकी सभा में उपस्थित होते हैं। इस सभा को 'समवसरण' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—'समानरूप से सवकी शरणा-गति' अर्थात् जिसकी शरण में सभी प्राणी आते है। तीर्थंकर की वाणी की गूंज एक योजन तक की दूरी को घेरती है। 'समवसरण' में बारह प्रकोष्ठ होते हैं, जिनमें एक प्रकोष्ठ पशुओं के लिए भी होता है। तीर्थंकर की वाणी कोस भी प्राणी अपनी-अपनी भाषाओं में सुनते-समझते हैं। तीर्थंकर का विहार जहां-जहां होता है, वहां-वहां रोग, वैर, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्षआदि कभी नहीं होते। देश मे सर्वत्र शान्ति छा जाती है। कैवल्य लाभ करने के पश्चात् तीर्थंकर अपना शेष जीवन प्राणियों के उद्धार-कार्य में ही विताते हैं। इसी से जैनों का परम पवित्र पंच नमस्कार-मन्त्र में 'अरिहन्त' को प्रथम स्थान दिया गया है · 'णमो अरिहंताणं'=अर्हतों को नमस्कार।'

जैनसिद्धान्त में मुक्तों को 'सिद्ध' भी कहते हैं। यद्यपि अर्हतों से सिद्धों का पद ऊंचा है, क्योंकि अर्हत् कर्म वन्धन से सर्वथा मुक्त नही होते और सिद्ध उससे सर्वथा मुक्त होते हैं, तथापि सिद्धों को अर्हतों के वाद नमस्कार किया गया है: णमो सिद्धाणं=सिद्धों को नमस्कार।' इस प्रकार, जैन दृष्टि से अर्हत्-पद और सिद्ध-पद प्राप्त जीव ही ईश्वर कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव या आत्मा में ईश्वर होने की शक्ति निहित है। परन्तु, अनादि काल से कर्म वन्धन के कारण जीव की वह शक्ति आवृत रहती है। जो जीव इस कर्म वन्धन को तोड़ डालता है, उसके ही ईश्वर वनने की शक्तियां प्रकट हो आती हैं और वह ईश्वर वन जाता है। इस प्रकार ईश्वर किसी एक पुरुष विशेष का नाम नहीं है, अपितु जैसा कहा

(शेष पृष्ठ 95 पर)

योग दर्शन और जैन दर्शन

● डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर

योगदर्शन की परम्परा प्राचीनता की दृष्टि से प्राग्वैदिक मानी जाने लगी है। निवृत्तिप्रधान होने से इसका जैनधर्म के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। पंतजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों के रोकने को योग कहते हैं।[1] जैनधर्म में दो प्रकार का संयम माना गया है—(१) इन्द्रिय संयम और (२) प्राणि संयम। योग की उपर्युक्त परिभाषा का अन्तर्भाव इन्द्रियसंयम के अन्तर्गत हो जाता है। इन्द्रियां जब अपने-अपने विषयों में नही दौड़ती, तब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है। उस समय वह कर्त्ता की अपेक्षा दृष्टा अधिक होता है। योग के समय ऐसे दृष्टा का स्वरूप में ठहराव होता है।[2] व्यास ने उस ठहराव की उपमा कैवल्य से दी है। तात्पर्य यह कि योग के समय सांसारिक विषयों में विचरते हुए के समान वृत्तियां नहीं होती हैं।[3] योगदर्शन में चित्त के परिणामविशेष को वृत्तियां कहा है। वृतियां दो प्रकार की होती हैं—(1) क्लिष्टा तथा (२) अक्लिष्टा। चित्त की वे वृत्तियां जो सांसारिक विषयों में आत्मा को फंसाए रहती हैं। वे क्लिष्टा और ज्ञानविषय वालों जो तीन गुणों के अधिकार को नष्ट करके मोक्ष कराती है। वे अक्लिष्टा कहलाती हैं। ये सब वृत्तियां निरोध करने योग्य हैं। जहां तक क्लिष्ट वृत्तियों के निरोध का सम्बन्ध है, उसके विषय में किसी को विरोध नहीं है। परन्तु ज्ञान, प्रेम आदि अक्लिष्ट वृत्तियों के निरोध के विषय में मतभेद है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदान्ती तथा कई बौद्ध कहते हैं कि विदेह-मुक्ति के समय शरीर की भांति चित्त या मन का भी विसर्जन हो जाता है। यदि चित्त का ही विलय हो जाय तो अक्लिष्ट वृत्ति पैदा ही किसमें हो? इसमें मुक्त दशा में विशुद्ध ज्ञान या विशुद्ध आनन्द जैसी वृत्तियों के लिए अवकाश नही है। जैनाचार्य हरिभद्र कहते हैं कि मुक्त दशा में अक्लिष्ट वृत्तियों का केवल इतना ही अर्थ हो सकता है कि मानसिक कल्पनाओं और व्यापारों का देहव्यापार की भांति विलय हो जाता है, चेतन की सहज एवं निरावरण ज्ञान, प्रेम, आनन्द आदि

वृत्तियों का विलय नहीं होता।[4] चित्त दो धाराओं वाली नदी के समान है। चित्त की एक धार रूपावृत्ति कल्याण के लिए बहती है। पूर्वजन्म में कैवल्यार्थ उपाय करने वाली कैवल्य प्राग्भारा वृत्ति, जो कि विवेक की ओर चलती है, वह मानों कल्याण की ओर बहने वाली धारा है। जिस पुरुष ने पूर्वजन्म में सांसारिक भोग किए हैं, उसकी वृत्ति संसार प्राग्भारा है। वह विवेक ज्ञान की विरोधी सांसारिक विषयों में चलने वाली पाप की धारा है। वैराग्य से विषयों का स्रोत नष्ट किया जाता है। विवेक ज्ञान के अभ्यास से विवेक का स्रोत खोला जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति का विरोध अभ्यास और वैराग्य दोनों के अधीन है।[5]

स्थिति का यत्न अभ्यास कहलाता है।[6] चक्र के समान निरन्तर घूमने वाले (चंचल) चित्त का शान्त प्रवाह में बहना स्थिति कहलाती है। ऐसी स्थिति के लिए यत्न करना, बल लगाना और उत्साह होना, उसके सम्पादन की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना अभ्यास कहलाता है।[7] वह अभ्यास दीर्घकाल अर्थात् मरणपर्यन्त सभी अवस्थाओं, सर्वभूमियों में आदरयुक्त किया हुआ दृढ़-भूमि होता है।[8] देखे और सुने हुए विषयों की तृष्णा से रहित होना वशीकार नाम वाला वैराग्य कहलाता है।[9] दो प्रकार के विषय हैं—देखे और सुने। देखे हुए शब्दादि जो संसार में ही प्राप्त हैं, दृष्ट कहलाते हैं। देवलोकादि आनुश्रविक हैं। गुरुमुखादि से सुनकर वेद का प्राप्त होना आनुश्रविक कहलाता है। इन दोनों विषयों में अनित्यता और आनन्दरहितता देखने से दूर हो गई है, ग्रहण करने की इच्छा जिसकी, ऐसा पुरुष— मेरे यह वश में है, मैं इनके वश में नहीं। इस प्रकार का विचार करता है, यही वैराग्य है।[10] अभ्यास के अन्तर्गत जैनधर्म में कहे हुए गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय और चारित्र आते हैं। वैराग्य के अन्तर्गत अनुप्रेक्षाओं का अन्तर्भाव होता है।

योगदर्शन में अविद्यादि क्लेश और पुण्य-पाप रूप कर्म तथा उन कर्मों के फल औरवासनाओं से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर कहा है।[11] ईश्वर का यह लक्षण जैन परम्परागत मुक्त जीव के लक्षण से पूरी तरह मिल जाता है। ऐसे ईश्वर में प्राणिधान करने से समाधि और उसका फल कैवल्य प्राप्त होता है।[12] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है—

> जो जाणादि अरहतंदव्वत्त गुणत्तपज्जयत्तेहिं।
> सो जाणादि अप्पाणं मोहो खलुजदि तस्य लयं॥

जो अरहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से जानता है। वह अपने को जानता है और उसका मोह क्षय को प्राप्त हो जाता हैं।

योगदर्शन में जिसमें सबसे अधिक ज्ञान हो, उसे सर्वज्ञ माना गया है।[13] जैनदर्शन में सब द्रव्यों की सब पर्यायों को एक साथ जानने वाले को सर्वज्ञ कहा गया है।[14] इस प्रकार सर्वज्ञ के विषय में की गई जैन परिभाषा योगदर्शन में दी गई परिभाषा की अपेक्षा विशिष्ट है।

योगदर्शन के अनुसार सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा अपुण्यात्माओं के साथ योगदर्शन में सुख को भोगने के पश्चात् जो चित्त में उसके भोगने की इच्छा रहती है, उसे रण कहते हैं।[15] दुःख अनुभव के पश्चात् जो द्वेष रूपी वासना चित्त में शयन करती है। वह द्वेष कहलाता है।[16] जिस मरणभय में स्वभाव से ही विद्वान उसी प्रकार आरूढ़ होता है, जैसे मूर्ख, वह अभिनिवेश क्लेश है।[17] जैन धर्म के अनुसार सम्यग्दृष्टि के सात प्रकार के भय नही होते हैं, जिनमें एक मरणभय भी है। राग, द्वेष और भय की जैनधर्म में नोकपाय के अन्तर्गत रति, अरति और भय के नाम से गणना की गई है। वर्तमान जन्म और भावी जन्म में अनुभव करने योग्य कर्म और वासनाओं का मूल क्लेश है।[18] क्लेश रूप मूल के रहते हुए उनका फल जाति (जन्म), आयु और भोग अवश्य होते हैं।[19] वह जाति, आयु तथा भोग पुण्य और पाप रूप कारण द्वारा उत्पन्न होने से सुख तथा दुःख रूप फल वाले हैं।[20]

योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम कहे गए हैं। जैनधर्म में इनकी व्रतों के अन्तर्गत गणना की जाती है[21] और इनके दो भेद किए हैं— १—अणुव्रत और २—महाव्रत। अणुव्रत में उक्त व्रतों का एक देश (सीमित) धारण होता हैं, महाव्रत में पूर्णरूप से धारण होता है।[22] महाव्रत की इस परिभाषा से पंतजलि द्वारा दी गई परिभाषा पूरी तरह मिलती है; तदनुसार अहिंसा आदि का जाति, देश, काल, समय में आबद्ध न होकर पालन करना महाव्रत है।[23] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम हैं।[24] उपर्युक्त यम और नियम के जो फल पंतजलि ने बतलाए हैं, उनका जैन दृष्टि की अपेक्षा कोई विरोध नहीं है।

योगदर्शन में जिसमें स्थिरता और सुख हो, उसे ही आसन स्वीकृत किया गया है।[25] जैनधर्म में भी सामायिक के लिए कोई विशेष आसन स्वीकृत नही की गई है, जिससे उपयोग की स्थिरता हो, वही आसन उपादेय मानी गई है। जैन दर्शन में सबसे अधिक महत्त्व ध्यान को दिया गया है। प्राणायाम के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का मत है कि उसे बलपूर्वक नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से

शारीरिक पीड़ाओं के कारण मन को कष्ट होकर ध्यान में बाधा पड़ने की सम्भावना रहती है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने लिखा है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैकदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः ॥

मित्रता, दया, हर्ष तथा उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है।[26] जैन धर्म में भी इन्ही भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करने की कामना की गई है।[27] तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिवान यह योग की क्रिया है।[28] ये तीनों जैनदर्शन में कहे गये चारित्र, ज्ञान और श्रद्धा के प्रतीक हैं। व्यास ने कहा है—तप रहित पुरुष को योग सिद्ध नहीं होता है। अनादिकाल से कर्म, क्लेश और वासनाएं बुद्धि में चित्रित हुई विषय जाल को उठाने वाली अशुद्धि हैं। ये तप के बिना नाश को प्राप्त नहीं होती हैं। इस कारण तप का ग्रहण है। तप चित्त को प्रसन्न करने वाला है। ओंकार आदि पवित्र नामों का जप तथा मुक्ति प्रतिपादक शास्त्रों का पढ़ना स्वाध्याय है। समस्त क्रियाओं का परम गुरु परमात्मा को अर्पण करना और उनके फल की इच्छा का त्याग करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।[29] जैन धर्म में भी भगवान को यज्ञपुरुष मानकर उन्हें पुण्यकर्मो के अर्पण करने का संकल्प किया गया है।[30] उपर्युक्त योग समाधि की भावना करने वाला और क्लेशों को शिथिल करने वाला है।[31] योगदर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश कहे गए हैं।[32] इन सबकी जो परिभाषाएं पंतजलि ने दी है, उनमें से अस्मिता को छोड़कर सभी परिभाषाएं जैन परिभाषाओं से मिलती जुलती हैं। अनित्य, अपवित्र, स्वरूप अनात्म को क्रमशः नित्य, पवित्र, सुखरूप और आत्म मान लेना अविद्या है। जैनदर्शन में इसे ही मिथ्यात्व कहा है। संसार भ्रमण का मूलकारण यही है कि जीव परद्रव्यों को अपना मानकर उसमें लीन हो रहा है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—

येनात्माबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ समाधितन्त्र—१

जिसने आत्मा को आत्मरूप से जाना, पर को पररूप से जाना, अक्षय और अनन्त ज्ञान के लिए उस परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूं।

जैन धर्म में संसार को अशरण, अशुभ, अनित्य, दुःख रूप और अनात्मक मानकर उसके विपरीत मोक्ष का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है।[33]

योग के फलस्वरूप जो विभूतियां प्राप्त होती हैं, वे योग और जैनदर्शन में समान रूप से त्याज्य बतलाई गई हैं।

संदर्भ संकेत :

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ पातञ्जल योगदर्शन १/२
२. तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् ॥ वही १/३
३. स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तियेया कैवल्ये । व्युत्थानचित्तेतु सति तथाऽपि भवन्ति न तथा ॥ वही—व्यासभाष्य ।
४. पण्डित सुखलालसंघवी: समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ. १०१ ।
५. पातञ्जल योगदर्शन—व्यास भाष्य १/१२
६. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः १/१३ (पातंजल योगदर्शन)
७. वही व्यासभाष्य १/१३
८. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कार सेवितो दृढ़भूमिः ॥ पातंजल योगदर्शन १/१४
९. द्रष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्—पातञ्जल योगदर्शन १/१५
१०. वही—भोजदेववृत्ति ।
११. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ पात. योगदर्शन १/२४
१२. ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥ पात. योग. १/२३
१३. तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम ॥ वही १/२५
१४. सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य—तत्वार्थ सूत्र ।
१५. सुखानुशयी रागः ॥ पात. योग. २/७
१६. दुःखानुशयी द्वेषः ॥ वही २/८
१७. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ वही २/९
१८. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय ॥ पात. योग. २/१२
१९. वही २/१३
२०. वही २/१४
२१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रेहभ्यो विरतिर्व्रतिम् ॥ तत्त्वार्थसूत्र
२२. देश सर्वतोऽणुमहती ॥ तत्त्वार्थसूत्र
२३. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ पा. योग. २/३१
२४. शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः ॥ पात. योग २/३२
२५. स्थिरसुखमासनम् ॥ वही २/४६
२६. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् ॥ पा. योग. १/१३३

(शेष पृष्ठ 95 पर)

अध्यात्मसूत्र : एक अध्ययन

—डा० कस्तूर चन्द्र 'सुमन', श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री सहजानन्द वर्णी न्यायतीर्थ अपने समय के एक आदर्श विचारक सन्त थे। उनका आध्यात्मिक ज्ञान और चिन्तन अपूर्व था। अध्यात्म-प्रेमियों के लिए उनकी 'अध्यात्म सूत्र' मौलिक कृति जैन साहित्य को एक अनूठी देन है।

प्रभाव—जैन शास्त्रों में सूत्र साहित्य विपुल नहीं है। संस्कृत सूत्र साहित्य उमास्वामी-कृत तत्त्वार्थसूत्र ही एक ऐसी रचना हैं, जो बहुचर्चित हुई है। प्रस्तुत अध्यात्मसूत्रों की रचना शैली में तत्त्वार्थसूत्र का ही अनुकरण किया गया है। दोनों की विषय वस्तु दस अध्याओं में विभाजित की गई है।

सूत्र-संख्या—अध्यायों की सूत्र-संख्या भिन्न-भिन्न है। तत्त्वार्थ-सूत्र में कुल सूत्र तीन सौ सत्तावन हैं जबकि अध्यातमसूत्र में कुल-सूत्र तीन सौ छब्बीस हैं। अध्यायों के क्रम सूत्र में निम्न प्रकार हैं—

तत्त्वार्थसूत्र		अध्यात्मसूत्र	
अध्याय	सूत्र संख्या	अध्याय	सूत्र संख्या
१	३३	१	२८
२	५३	२	२६
३	३९	३	२६
४	४२	४	२१
५	४२	५	२२
६	२७	६	२३
७	३९	७	१८
८	२६	८	२६
९	४७	९	२९
१०	९	१०	१७

विषय-वस्तु—इस प्रकार दोनों रचनाओं में न केवल अध्यायों की सूत्र-संख्या में ही भिन्नता है, अपितु अध्ययों की विषय-वस्तु भी भिन्न-भिन्न है।

तत्त्वार्थ-सूत्र में आदि के चार अध्यायों में अजीव, पांचवें में जीव, छठे तथा सातवें में आस्रव, आठवें में बन्ध, नौवें में संवर और निर्जरा तथा दसवें में मोक्ष तत्त्व की मीमांसा की गयी है।

प्रस्तुत रचना में इन सातों तत्त्वों की व्याख्या के साथ निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, कर्तृ-कर्मत्व, गुणस्थान, विशुद्धज्ञान और संयम जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों का भी समावेश किया है।

जीव और अजीव तत्त्वों का प्रकारान्तर से दूसरे तीसरे अध्यायों में विवेचना की गई है। चौथे में आस्रव, पांचवें में संवर, छठे में निर्जरा, सातवें में मोक्ष तत्त्व का स्वरूप है। इस प्रकार 'अध्यात्म-सूत्र' में नवीन प्रभाव का सृजन है। पाठक इन सूत्रों में निहित अर्थ के गम्भीर अमृत सिन्धु में जैसे ही प्लावन करने लगेगा वैसे ही वह अलौकिक स्वानन्द की झलक पाने लग जाएगा, ऐसा सामर्थ्य इन सूत्रों में है। 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढ़ निर्णयः' इस सूत्र लक्षण के अनुसार प्रत्येक सूत्र अल्पअक्षरवान, असंदिग्ध, सारभूत व गूढ़ बातों का सम्यक् निर्णायक, अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ से भरपूर है।

ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र

जीवों का जीवन सुखी हो इसके लिए जीवन की शुद्धिस्थिति क्या है? वह कैसे साध्य है, उसकी साधना में कैसी बाधाएँ हैं, उन बाधाओं को कैसे दूर किया जा सकता है। क्या ज्ञेय है? और क्या हेय है? इन सभी प्रश्नों का इस अध्यात्मसूत्र के द्वारा समाधान किया गया है।

ज्ञान मीमांसा—प्रथम अध्याय में ज्ञान की मीमांसा की गई है। इसमें शुद्ध-स्थिति को साध्य बताकर, उसकी साधना के लिए आवश्यक तत्त्वों का उल्लेख है। ज्ञान मीमांसा की सारभूत बातें निम्न प्रकार हैं—(१) निरुपधि दृष्टि और उसके हेतु। (२) निश्चय-व्यवहार नय और उनके भेद-प्रभेद। (३) रागादि की परिणति।

ज्ञेय मीमांसा—इसके लिए अध्याय दूसरा, तीसरा, आठवां और नौवां द्रष्टव्य है। इसमें जीव और अजीव दो तत्त्वों का वर्णन है। दूसरे अध्याय में छः द्रव्यों का नामोल्लेख कर उनके निमित्त और उपादान सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। तीसरे अध्याय में जीव और अजीव का कर्तृ-कर्मत्व, आठवें अध्याय में जीव के भावों की स्थिति सूचक गुणस्थान तथा नौवें अध्याय में जीव की आत्मा-सम्बन्धी व्याख्या की गई है।

ज्ञेय मीमांसा की सारभूत बातें निम्न प्रकार हैं—दूसरे अध्याय में—(१)

छः द्रव्यों में जीव-द्रव्य का स्थान । (२) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षड् द्रव्यों की गणना, परिणमन, और सम्बन्ध । (३) निमित्त-उपादान । (४) कर्म और कैवल्य । (५) सम्यग्दर्शन के निमित्त कारण । तीसरे अध्याय में—(६) द्रव्य का कर्त्ता, कर्म और क्रिया । (७) द्रव्य का स्वभाव-परिणमन, उसके भेद, उनका स्वरूप और हेतु । (८) द्रव्य का अकर्तृत्व । (९) कर्तृत्व बुद्धि और भेदविज्ञान का सम्बन्ध । (१०) भेदविज्ञान और मोक्ष का सम्बन्ध । (११) मोक्ष मार्ग । आठवें अध्याय में (१२) गुणस्थान । नौवें अध्याय में—(१३) आत्मा का स्वरूप, उसके भेद, परिणति ।

चारित्र मीमांसा—आध्यात्मिक जीवन में कौन प्रवृत्तियां देय हैं और कौन उपादेय हैं, उनका सेवन करने से क्या फल प्राप्त होता है, देय प्रवृत्तियों से निवृत्ति और उपादेय-प्रवृत्तियों में प्रवृत्ति कैसे हो, इनका अन्त में क्या परिणाम निकलता है—ऐसे तथ्यों पर ऊहापोह करना चारित्र मीमांसा है। इस सन्दर्भ में वर्णीजी कृत प्रस्तुत अध्यात्मसूत्र के पांच अध्याय—चौथे से सातवें तक तथा दसवां, द्रष्टव्य हैं।

चारित्र मीमांसा की सारभूत बातें निम्न प्रकार हैं—चौथे अध्याय में—(१) कर्म का स्वरूप, पुण्य-पाप. द्रव्य-भाव रूप उसके भेद । (२) आस्रव का स्वरूप। (३) बन्ध का स्वरूप । (४) आस्रव और बन्ध के भेद । (५) हेय और उपादेय । (६) उपादेय प्राप्ति के हेतु । पांचवें अध्याय में—(७) संवर का स्वरूप, महत्त्व, उसकी उत्पत्ति के कारण. उसका फल, भेद और उनकी हेयता, तथा प्राप्ति की विधि । छठे अध्याय में—(८) निर्जरा का स्वरूप, महत्त्व, भेद और उनका स्वरूप तथा हेतु और हेतु के आठ अंग । (९) निर्जरा के साधन और फल । सातवें अध्याय में—(१०) मोक्ष का स्वरूप और मोक्ष का मार्ग । (१२) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का स्वरूप (१२) मोक्ष के हेतु, भेद-प्रभेद और फल। दशवें अध्याय में—(१३) संयम का स्वरूप, भेद और उनका स्वरूप, उपादेयता और फल का वर्णन है ।

अध्यात्म सूत्र का स्वरूप

लेखक की लेखनी में ध्येय होता है। विना लक्ष्य के साहित्य-सृजन नहीं होता । पूज्य सहजानन्द वर्णी का भी इस रचना के पीछे जीवों को दुःख से छुड़ा कर सुख की ओर ले जाना ध्येय रहा है, अध्यात्म सूत्र का आरंभ और अन्त इस तथ्य का प्रमाण है ।

उन्होंने कहा कि सुख पाने के लिए सुखी की खोज करो, न कि सुख की। सुखी का अध्ययन करो कि वह सुखी कैसे हुआ? उसने कौन सा मार्ग अपनाया? इस प्रकार यदि सुखी को जानने-समझने का प्रयत्न किया जावे तो निश्चित

ही ऐसे खोजी को मिल जावेगा वह मार्ग जिससे सुखी, सुखी हुआ है।

साधारणतः इन्द्रियों की अरुचि का अनुभव दुःख तथा रुचि का अनुभव सुख माना जाता है किन्तु वर्णी जी इन्द्रियाधीन सुख-दुःख को सुख-दुःख नहीं मानते इसे सुखाभास या दुखाभास कहते थे। उनकी दृष्टि में निराकुलता सुख और आकुलता दुःख था। वे कहा करते थे कि इन्द्रियों को चाहे सुहावना अनुभव हो चाहे असुहावना। आकुलता दोनों में है। इसलिए वे दोनों ही विकार हैं। दोनों में स्वभाव का घात है। जहां स्वभाव का घात हो वहा सुख संभव नही। अतः ऐसे सुखी की खोज करो जिसे सुख पर से नहीं मिला हो, निज से निज में ही प्राप्त हुआ हो, जैसा सुख अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठियों को मिला।

सुख पाने के लिए सुख को छोड़ सुखी को पाने का लक्ष्य रखने के पीछे वर्णी जी का अनुभव था कि प्रयत्न श्रद्धा के अनुसार होता है। मनुष्य की—अपने पड़ोसी को सुखी देखकर उसके सुख का कारण उसका लखपति होना है, ऐसी श्रद्धा हो जाने पर वह जैसे अपनी श्रद्धा के अनुसार लखपति बनने का प्रयत्न करता है, ठीक इसी प्रकार सुखी को देखकर सुखी होने की प्रेरणा मिलेगी और जीव सुखी होगा।

वर्णी जी ने अपनी अनुभूति और परम्परागत आगम के अध्ययन से सुख को निर्मलता का प्रसाद और दुःख को आशाओं का फल कहा। उनका अभिमत था कि सुख स्वस्थ रहने में है। स्व का अर्थ है आत्मा और स्थ का अर्थ है ठहरना, स्थिर होना। इस प्रकार आत्मा में स्थिर होना ही सुख है।

इसी सुख की विवेचना ही 'अध्यात्म-सूत्र' का वर्ण्य-विषय है। जीव को सुखी बनाने के ध्येय से रचे गए इन सूत्रों में वर्णी जी ने अपने अनुभव को उड़ेल दिया है। उन्होंने सुखी होने का मार्ग दर्शाया है और जगाया है भेद-विज्ञान। तथा कोशिश की है जीवों को सहज ज्ञानानन्द स्वरूप प्राप्त कराने की।

अध्यात्मसूत्र का हिन्दी-सार

प्रथम अध्याय

वर्णी जी का अभिमत था कि सुख के लिए शुद्ध-स्थिति की साधना आवश्यक है, जिसकी साधना निराकुलता के होने पर ही होती है। निराकुलता जन्मती है निरुपधिदृष्टि से तथा निरुपधिदृष्टि जन्मती है वीतरागता से। वीतरागी संसार में रहता है, पर उसी प्रकार संसार से अलिप्त रहता है जैसे कमल जल से। यही है निरुपधिदृष्टि।

यह स्वभाव और परभाव का विवेक हुए बिना संभव नही है। विवेक का

अर्थ है—दो द्रव्यों या भावों को अलग अलग जानकर अच्छे को ग्रहण कर लेना और बुरे को छोड़ना। ज्ञान और दर्शन आत्मा का निज स्वभाव है। पर पदार्थों के निमित्त से इनमें उत्पन्न होने वाला मोह, राग-द्वेष रूप विकार परस्वभाव है। जैसे जल में कीचड़ मिल जाने से जल मलिन नहीं होता क्योंकि जल स्वभाव से निर्मल होता है। निर्मलता उसका स्वभाव है। उसमें मलिनता उत्पन्न करने वाला निमित्त है कीचड़। जब तक वह रहेगी जल मलिन रहेगा। उसके हटते ही वह आ जायेगा स्व-स्वभाव में। यहाँ कीचड़ परभाव है।

स्वभाव-परभाव के विवेक की साधिका परीक्षा है, और परीक्षा का अर्थ है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का सब दृष्टियों से विचार करना। वस्तु स्वरूप का ऐसा परीक्षण प्रमाण ज्ञान से होता है। प्रमाण के अंश को विषय करने वाला नय है जिसके दो भेद है—निश्चय नय और व्यवहार नय। इनमें जो स्वाश्रित है वह निश्चय नय और जो पराश्रित है वह व्यवहार नय है। दुःख पराश्रित भावों में है और सुख है स्वाश्रित भावों में। निश्चय नय के तीन भेद हैं—अशुद्ध निश्चय नय, शुद्ध निश्चय नय और परमशुद्ध निश्चय नय। इनमें एक द्रव्य का विषय करने वाले नय का अशुद्ध द्रव्य को विषय करने पर निश्चय अशुद्ध नय कहलाता है। जैसे कोई कुसंगति में पड़कर जुआ खेलने लगे। इसमें कुसंगति-निमित्त को गौड़ कर व्यक्ति अपने आप स्वयं दुर्व्यसनी हुआ—ऐसा जानना अशुद्ध निश्चय नय है। अपनी ही शुद्ध परिणति से वह शुद्ध है। ऐसा देखना जानना शुद्ध निश्चय नय, और अनादि से चलती आई पर्यायों की परम्परा पर ध्यान न देकर उन पर्यायों में रहने वाले ध्रौव्य को जानना परमशुद्ध निश्चय नय है। सम्यग्ज्ञानी इसी नय का अभ्यासी होता है। बाहिरी पर्याय दिखाई देते हुए भी वह उसे नहीं देखता, उसका ध्यान सदैव शाश्वत् द्रव्य की ओर केन्द्रित रहता है। उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टि होने पर पूर्व-पूर्व का निश्चय व्यवहार बनता जाता है। सर्वभेदों के द्वारा ज्ञेय निश्चय ही है। सामान्यतः इसका प्रयोजन वस्तु की यथार्थता से परिचय कराना है। स्वानुभव इसका फल है। निर्विकल्प रूप से स्व का अनुभव होना अर्थ-द्रव्य गुण और पर्याय में रहने वाले आत्म-द्रव्य का अनुभव है और यही है अर्थानुभव।

निश्चय का ज्ञान व्यवहार से होता है। व्यवहार के ग्यारह भेद हैं—(१) आश्रय संबंधी व्यवहार। (२) निमित्त संबंधी। (३) उभयात्मक (४) उपचरित असद्भूत (५) अनुपचरित असद्भूत (६) उपचरित सद्भूत (७) अनुपचरित सद्भूत (८) अशुद्ध निश्चय नय निरूपक (९) शुद्ध निश्चय नय निरूपक (१०) परम शुद्ध निश्चय नय निरूपक (११) निरपेक्ष शुद्ध निरूपक व्यवहार।

इनमें कार्य की सिद्धि में आश्रय रूप कारण आश्रय संबंधी व्यवहार है। जैसे—घर, धन आदि को राग का कारण कहना। आश्रयभूत पदार्थों पर राग हो भी सकता है और नहीं भी परन्तु यदि हुए तो वे आश्रय लेकर ही होंगे।

कर्म-रूप द्रव्यों के मिलने पर एक दूसरे द्रव्य का उस रूप में परिणमित हो जाना निमित्त व्यवहार हैं। जैसे कर्मों का निमित्त पाकर आत्मा का विभाव रूप परिणमित हो जाना। यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना है कि कर्म अपनी परिणति से आत्मा को नहीं परिणमाते और न आत्मा अपनी परिणति से कर्म वर्गणाओं को अपने रूप परिणमाता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर ऐसा परिणमन स्वयमेव होता है। जैसे जहाँ कषाय होगी, कर्म-स्कन्धों का परिणमन होगा ही।

उभय सम्बन्धक व्यवहार नय वह है जो कथंचित् आश्रय और कथंचित् निमित्तरूप व्यवहार का विषय करे। जैसे शरीर नोकर्म। बुद्धिपूर्वक राग आदि परिणामों को आत्मिक परिणाम कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे घी का घड़ा कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार है।

पर के निमित्त से पदार्थ में अंश रूप कल्पना करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्ययः-ज्ञान कहना। और जिस पदार्थ में जो गुण है उसे विशेष की अपेक्षा रहित सामन्य रूप से उसी का कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे ज्ञान गुण आत्मा का है ऐसा कहना।

अशुद्ध, शुद्ध और परमशुद्ध निश्चय नयों के विषयभूत पदार्थों का निरूपण करना तत्तद्विषयक व्यवहार है। तथा निर्विकल्प वस्तु के शुद्ध स्वरूप को अपेक्षा भावों के विना कहना निरपेक्ष शुद्ध निरूपक व्यवहार है।

द्वितीय अध्याय

निश्चय और व्यवहार की व्याख्या करने के पश्चात् पूज्य वर्णी जी ने उपादान और निमित्त को स्पष्ट किया है। इनका जानना भी आवश्यक है। निश्चय और व्यवहार का ज्ञान इनसे सम्वद्ध है।

जगत में द्रव्य छः हैं—जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव अनन्तानन्त हैं। पुदगल जीवों से भी अन्नत गुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाश तीनों एक-एक हैं और काल द्रव्य असंख्यात एक प्रदेशी है। ये द्रव्य अपनी-अपनी परिणति से परिणमते रहते हैं। इनके परिणमन में कोई न कोई निमित्त अवश्य

रहता है। पर के परिणमन में ये उसी प्रकार निमित्त बनकर रहते हैं, जैसे जल मछली के चलने में निमित्त रूप होता है। ये पर को अपने अनुसार नहीं परिणमते और न उन्हें परिणमन करने के लिए प्रेरित करते हैं, जैसे जल चलती हुई मछली को चलने में सहायता तो करता है किन्तु चलने के लिए मछली को प्रेरित नहीं करता।

अज्ञानी द्रव्यों के स्वभाव-ज्ञान के अभाव में पर पदार्थों को अपने अनुकूल चलाना चाहता है। अज्ञानी का ऐसा सोचना उसी प्रकार उपयुक्त नहीं है जैसे बैलगाड़ी के नीचे चल रहे कुत्ते का यह सोचना कि वह बैलगाड़ी चला रहा है। ऐसा वह राग-द्वेष आदि के कारण सोचता है। ये राग आदि भाव निमित्त कर्म हैं। अशुद्ध निश्चय से ये भाव आत्मा के हैं किन्तु निमित्त की अपेक्षा ये कर्मों के हैं।

कर्म और रागादि में अन्वय-व्यतिरेक संबंध होता है। कर्मों के उदय से राग आदि होते ही हैं, और अभाव में नहीं होते। अतः कर्मोदय रागादि के लिए निमित्त है। शुद्ध निश्चय नय से रागादि है ही नहीं। इनकी दृष्टि द्रव्य पर होती है, पर्याय पर नहीं। यह शुद्ध स्वभाव को ही देखने का स्वाभावी होता है। यही कारण है कि उसे रागादि प्रतिभासित ही नहीं होते।

कर्मों का क्षय कैवल्य-उत्पत्ति में निमित्त है और शुद्ध आत्मा कैवल्य अवस्था का उपादान है। निश्चय नय से कैवल्य आत्मज है किन्तु व्यवहार नय से कैवल्य में कर्मक्षय निमित्त हैं, और उपादान शुद्ध आत्मा है। इसी प्रकार सम्यक्त्व की उत्पत्ति में उपादान कारण स्वयं आत्मा है। तथा श्रोता की श्रद्धा में ज्ञानी उपदेशक की देशना और जिन प्रतिमा के दर्शन आदि निमित्त हैं। निश्चय-व्यवहार, निमित्त और उत्पादन की यही स्थिति सभी द्रव्यों के सम्बन्ध में होती है।

तृतीय अध्याय

यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि सुख आत्मा की शुद्ध-स्थिति में है। अतः सुख के लिए निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान को जानने के पश्चात् आत्मा के कर्तृत्व-कर्मत्व को जानना भी आवश्यक है।

साधारणतः जिससे जिस वस्तु का उत्पादन होता है उसे वस्तु का कर्त्ता कहा जाता है, जैसे छाया का कर्त्ता वृक्ष। परन्तु यथार्थ में परिणमन करने वाला कर्त्ता है। छाया रूप अवस्था का कर्त्ता वह है जो छायारूप बन गया। अतः छाया *का कर्त्ता वृक्ष नहीं, वृक्ष के नीचे की वह पृथ्वी है जिस पर वृक्ष की छाया पड़* रही है। यदि वृक्ष कर्त्ता होता तो छाया पृथ्वी पर नहीं, वृक्ष के प्रदेशों में रहती

चाहिए थी किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। घट का कर्त्ता मिट्टी है, कुम्हार नहीं। कुम्हार, चाक आदि तो निमित्त हैं। यही है निश्चय दृष्टि। स्वकर्तृत्व को जाने बिना सुख नहीं पर कर्तृत्व की धारणा से विभाव भावों में पड़कर जीव दुखी ही होता है।

इसी प्रकार जो परिणम रहा है वह कर्म तथा परिणमन होना क्रिया है। निश्चय नय से तीनों अभिन्न हैं। पण्डित दौलतराम ने ठीक ही कहा है—

चिद्भाव कर्म चिदेश कर्त्ता चेतना किरिया तहां
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटी जहां दृग-ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥

इस प्रकार वस्तु अपनी ही क्रिया के द्वारा अपना ही स्वयं का कर्त्ता होता है। पदार्थ के परिणमन में अन्य सब पदार्थ निमित्तमात्र हैं। निमित्त को पाकर उपादान स्वयं अपने प्रभाव वाला हो जाता है। इस प्रकार परिणमन होना परिणममान द्रव्य का स्वभाव है। जैसे निमित्त प्राप्त होते है वैसा ही परिणमन होता है। स्वाति नक्षत्र का जल सीप रूप निमित्त मिलने पर मोती और सर्प के मुंह में पड़ने पर जैसे विष रूप परिणमित हो जाता है, इसी प्रकार विकारी निमित्त पाकर वस्तु विकार स्वभाव में और अविकारी स्वभाव सम्बन्धी निमित्त मिलने पर स्वभाव रूप परिणमित हो जाती है।

इस प्रकार द्रव्य मे शक्ति एक ही प्रकार की होती है। निमित्त की अपेक्षा से उसके परिणाम दो तरह के होते है--स्वभाव परिणमन और विभाव परिणमन। इनमें स्वभाव परिणमन में नियतता होती है। उसमें अनन्तकाल तक एकसा ही परिणमन होता है। विभाव परिणाम नियत और अनियत दोनों प्रकार के होने से उनमें दोनों प्रकार का परिणमन होता है। इनमें अमुक के वाद अमुक और अमुक के वाद अमुक ऐसा प्रति समयवर्ती परिणाम नियत परिणाम हैं, और अमुक के वाद अमुक ऐसे क्रमिक स्वभाव को जो पर निमित विना स्वयं न रखे वह अनियत परिणाम हैं।

सर्वज्ञ या विशेष ज्ञानी को जहाँ जो होना है वह ज्ञात होने से विभाव परिणामों की नियतता ज्ञात होती है। जो यह कहा जाता हैकि ईश्वर के बिना पत्ता नहीं हिलता इसका तात्पर्य भी यही है कि उन्हें वही ज्ञात होता है, जो होना होता है। वस्तु के इस नियमित परिणमन पर निश्चय कर आकुलता नहीं करनी चाहिए।

यह परिणमन कार्य प्रति समय की परिणति पूर्वक होता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध नहीं होता। सब वस्तुएं, उनमें रहने वाली शक्तियां और पर्याएँ सब

स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का कर्त्ता नहीं। किसी एक पदार्थ को किसी दूसरे पदार्थ का कर्त्ता कहना उपचार मात्र है। निश्चय से वस्तु अपने परिणामों का कर्त्ता है। आत्मा को राग आदि का कर्त्ता अशुद्ध निश्चय नय से माना जाता है। शुद्ध निश्चय नय से तो वह निर्मल भावों का कर्त्ता है। कर्तृत्व बुद्धि के होने का कारण है भेद विज्ञान का अभाव। परम शुद्ध निश्चय नय से द्रव्य अकर्त्ता है यथार्थ में परिणमन ही कर्तृत्व है। विभाव भाव या पर पदार्थों की कर्तृत्व बुद्धि अज्ञान है। दु:ख का यही कारण है। यही अज्ञान आत्मा की एकत्वअवस्था या पर पदार्थ का भेद विज्ञान नहीं होने तक रहता है।

भेद विज्ञान होने से विकल्प रहित ज्ञान-स्वभाव की स्थिरता प्राप्त होती है। यह स्थिरता ही मोक्ष का उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्ष के कारण नहीं हैं, मोक्ष का कारण हैं इन तीनों की एकरूपता। यह एक रूपता नयों के पक्ष से प्राप्त नहीं होती। वह तो सकल नयपक्षों से अतिक्रान्त है।

चतुर्थ अध्याय

कर्तृत्व को जानने के पश्चात् आइए हम कर्म को जाने। कषायों के कारण जो प्रकृति बनती है वह कर्म है। बद्ध कर्मों का प्रति समय उदय में आकर जीर्ण होना और नवीन कर्मों का प्रति समय बंधते रहना कर्मों का स्वभाव है। लोक बुद्धि के कारण कर्मों के दो भेद हैं—पुण्यकर्म और पापकर्म। इनके भी दो-दो भेद होते हैं —चेतन पुण्य, अचेतन पुण्य, चेतन पाप, अचेतन पाप। चेतना की परिणति भाव रूप होने से चेतन को भाव और कर्म अचेतन होने से उन्हें द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार पुण्य और पाप के क्रमश: दो-दो भेद होते है—भाव पुण्य, द्रव्यपुण्य, भाव पाप और द्रव्य पाप। इनमें साता रूप विकल्प भाव पुण्य और असाता रूप विकल्प भाव पाप है। इसी प्रकार साता आदि के निमित्तभूत कर्म द्रव्यपुण्य और असाता के निमित्तभूत कर्म द्रव्य पाप कहलाता है। कर्म की शक्ति भावकर्म रूप वर्गणाएं द्रव्य कर्म। इन कर्मों में हेतु स्वभाव, अनुभव और आश्रय यदि भेद न किया जावे तो पुण्य-पाप दोनों समान हैं। आत्म स्वभाव में विकार उत्पन्न होना कर्मों का आस्रव और निज स्वभाव से च्युत हो जाने का नाम बन्ध है। इनके दो-दो भेद हैं—भावास्रव, द्रव्यास्रव, भावबंध और द्रव्यबंध। अथवा जीवास्रव, अजीवास्रव, जीवबन्ध, अजीवबन्ध। इनमें विभाव आना और बंधना क्रमशः भावास्रव तथा भावबन्ध हैं, और द्रव्य कर्म में द्रव्यों का आना और ठहरना द्रव्यास्त्रव तथा द्रव्यबन्ध है। पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध सभी हेय हैं। इनसे रहित आत्म स्वभाव ही उपादेय है। इसकी उपलब्धि शुद्धपयोग से होती है और शुद्धोपयोग अशुद्ध तत्त्व की उपेक्षा से प्रकट होता है

तथा ऐसी उपेक्षा भेद विज्ञान से ही प्रकट होती है। यह भेदविज्ञान आत्मिक स्वभाव, उसकी शुचिता, ध्रुवत्त्व, अशरणता, अनाकुलता आदि से तथा इनकी विपरीत स्थिति से होने वाले आस्रव-बन्ध के परीक्षण से होता है।

पंचम अध्याय

सुख के लिए पुण्य-पाप, द्रव्य और भाव सभी आस्रव यदि हेय हैं, तब उपादेय क्या है जिससे सुख हो ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वर्णी जी ने कहा—सर्वप्रथम संवर उपादेय है यह मोक्ष का मूल है संवर का अर्थ है विकार भावों को उत्पन्न नहीं होने देना। यह भेद विज्ञान से ही संभव है। क्योंकि भेद विज्ञान से ही शुद्धात्म-रुचि उत्पन्न होती है और इस उपलब्धि से क्रमशः अध्यवसाय, राग द्वेष मोह, कर्म, नोकर्म और संसार का अभाव हो जाता है। संसार का अभाव होने से इन विकारों का सदैव अभाव रहता है। यह सब शुद्धात्मा की उपलब्धि में सर्वदा प्रवृत्ति बनी रहने पर निर्भर है।

यह संवर दो प्रकार का होता है—भाव संवर, द्रव्य संवर और चेतन-अचेतन संवर। ये दोनों संवर दोनों आस्रवों के निरोधक हैं। संवर करने वाला शुद्ध परिणामी होता है। उसके विभाव निमित्तों का अभाव होता है। संवारक और संवार्य के सम्बन्ध से जीव और अजीव दोनों मुख्य हैं। अतः यह संवर तत्त्व निर्विकल्प होकर ग्रहण करने योग्य है।

षष्ठ अध्याय

संवर से विकारों का आना बन्द किया जा सकता है किन्तु जो विकार पहले आ चुके हैं उनकी निर्जरा करना भी सुख के लिए आवश्यक है। विकारों की निर्जरा करने वाला तत्त्व निर्जरा है। इसी से मोक्ष होता है। इसके दो भेद होते हैं—भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। इनमें निर्विकल्प होकर वीतराग भावों में लीन होना—भाव निर्जरा और बन्ध के निमित्त कारणों को विफल कर कर्मों की निर्जरा करना—द्रव्य निर्जरा है। ये दोनों परमार्थ एकत्व दृष्टि से होते है और वह दृष्टि अन्तर-बहिर् निःशंकित, अनाकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, धर्म-वात्सल्य तथा धार्मिक प्रभावना से होती है।

निर्जरा के लिए उसका स्वभाव, विभाव रूप विभाजन कर स्वभाव निर्जरा ग्रहण करने योग्य है। यह निरुपधि उपादान कारण भूत एकीकृत शुद्ध पर्याय से होती है। इसकी स्थिरता के लिए समस्त राग-विकल्प त्याज्य कहे हैं। यह त्याग

आत्म-स्वभाव जाने बिना नहीं होता। इसके लिए बाह्य संयोगों में निर्वृत्ति आवश्यक हैं। इस प्रकार स्वभाव का आश्रय लेकर यह अनुभव करे कि मैं शुद्र-चिद्रूप हूं। ऐसी अनुभूति में ही सुख है।

सप्तम अध्याय

इस प्रकार निर्जरा तत्त्व को जानकर विकारों की निर्जरा करने से आत्मा की पूर्ण शुद्ध स्थिति प्राप्त होती है। यह स्थिति ही मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही इसको पाने का मार्ग है। इनमें विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप निज शुद्धात्मा की अनुभूति-सम्यग्दर्शन, अखण्ड स्वरूप की प्रतीति के साथ आत्मज्ञान-सम्यग्ज्ञान और विकार रहित स्वभाव से आत्म-ज्ञान की स्थिति सम्यक्-चारित्र है। इन तीन की एकता मात्र ही जानना है। क्योंकि उपाधियों से रहित मोक्ष इसी ज्ञान से होता है।

यह मोक्ष कर्मबन्ध का अभाव हुए बिना नहीं होता। कर्मबन्ध का अभाव राग से नहीं, अराग से होता है। स्वभाव-भेद परिज्ञान से होता है। मोक्ष के भी दो भेद हैं—द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष। मोच्य मोचक भेद से भी इसके दो भेद हैं। यथार्थ में वह अभेद-एकत्व रूप है। इसका ध्येय और फल शान्त-स्वरूप, शुद्धपरिणतिगत धर्म और कल्याण है।

अष्टम अध्याय

जीव विचारों का आगार हैं। उसके मानस में विचार सदैव उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे विचार होते हैं वैसी ही जीव परिणतियां होती हैं। जीव का उत्थान और पतन उसके विचारों से होता है। उत्तरोत्तर विकसित विचार सुख के कारण हैं। जैसे नीचे की सीढ़ि पार कर और ऊपरी सीढ़ि ग्रहण कर दूसरी-तीसरी मंजिल प्राप्त की ज़ाती है इसी प्रकार विचारों के उत्तरोत्तर विकास से सुख प्राप्त होता है।

मोक्ष महल रूप ऐसे सुख को पाने के लिए गुणस्थान रूप चौदह सीढ़ियाँ हैं—(1) मिथ्यात्व, (2) सासादन, (3) सम्यक्त्व प्रकृति, (4) अविरत सम्यक्त्व, (5) देश विरत, (6) प्रमत्तविरत, (7) अप्रमत्त विरत, (8) अधः-करण, (9) अपूर्वकरण, (10) अनिवृत्तिकरण, (11) उपशान्त मोह, (12) क्षीण मोह, (13) सयोग केवली और (14) अयोग केवली।

ये गुणस्थान श्रद्धा और चारित्र के योग से होते हैं। इनमें जैसे-जैसे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, वैसे-वैसे ही उत्तरोत्तर गुणस्थान प्राप्त होते जाते हैं। श्रद्धा और चारित्र का विपरीत अभिनिवेश प्रथम गुणस्थान है।

इसके दो भेद हैं—अनादि और आदि । इनमें आत्मा के साथ अनादि से बद्ध विकार अनादि मिथ्यात्व और सम्यक्तव से च्युत होने पर आत्मिक विकार बढ़ता सादि मिथ्यात्व है ।

सम्यक्त्व की विराधना होने पर अतत्त्व श्रद्धानरूप परिणति सासादन गुण-स्थान है और सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्त्व दोनों के मिश्रित परिणाम मिश्र तीसरा गुण स्थान है । व्रतों के न होने पर भी सम्यक्त्व का होना अविरत सम्यक्त्व और देश व्रत सहित सम्यक्त्व का होना देश विरत, सकल संयम में प्रमाद का सद्भाव-प्रमत्तविरत तथा असद्भाव अप्रमत्तविरत गुण स्थान है । अप्रमत्त-विरत के दो भेद हैं—(1) स्वस्थान अप्रमत्त, (2) सातिशय अप्रमत्त । इनमें उपशमक अथवा क्षपक श्रेणि का आरोहण नहीं करने रूप प्रमाद वृत्ति और अपने स्थान के (पद के) मूलगुणों के परिपालन में अप्रमाद-वृत्ति स्वस्थान अप्रमत्त और अधःकरण गुणस्थान रूप श्रेणि चढ़ने के लिए उसके सम्मुख होना सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान है । अधःकरण और सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान जीवों के परिणाम-संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं ।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण चारित्र मोहनीयकर्म के उपशम अथवा क्षय से होते हैं । सूक्ष्म लोभ भी यहाँ शेष नहीं रहता । सम्पूर्ण कषायों का उपशमन-उपशान्तमोह और क्षयक्षीणमोह तथा योगों का सद्भाव सयोग केवली और असद्भाव अयोगकेवली गुणस्थान हैं । सिद्ध गुणस्थानों से परे हैं । ये गुण-स्थान क्रम, अक्रम अथवा उभय रूप से आगम के अनुसार प्राप्त करने योग्य हैं । सिद्ध सब प्रकार से पूर्ण शुद्ध हैं अतः उन सिद्धों के लिए नमस्कार है ।

नवम् अध्याय

आत्मा की क्या विशेषताएं हैं उनकी ओर ध्यान देते हुए पूज्य सहजानन्द वर्णी ने सम्पूर्ण सारवान् वस्तुओं में आत्मा को ही सर्वाधिक सारवान् कहा है । उन्होंने इसकी सर्व अनन्त शक्तियों में ज्ञान को मुख्य माना है । सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इसकी दो पर्याएं हैं । इनमें मिथ्याज्ञान के उपचार से मिथ्यातत्व और सहचारी सम्यक्ज्ञान के होने से सम्यक्त्व पर्याय होती है । ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इनमें प्रथम चार ज्ञान विकल और अन्तिम केवल ज्ञान, सकल ज्ञान है ।

सभी पर्यायों में एक रूप अखण्ड ज्ञान ही केवल विशुद्ध है । वह अनादि, अनन्त, अहेतुक और परपरणति से परिणति शून्य है । यह अपने परिणाम से परिणमता है । सर्वशक्ति इसमें गर्भित होती है । सामान्य रूप से यह स्वलक्षण

वाला है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भावों से रहित है। विकृतियों से मुक्त है। ज्ञानमय होने से आत्मा ही है। उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन, अनुभूति सम्यग्ज्ञान और उसकी स्थिरता सम्यक् चारित्र है। इसकी विशुद्धि आत्मिक विशुद्धि में ही स्फुरित होती है।

दशम् अध्याय

ऊपर कहे गए ज्ञान का आचरण संयम है। विशुद्ध दृष्टि और शुभराग प्रवृत्ति भी उपचार से संयम है। इसके पांच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, और यथाख्यात चारित्र। इनमें वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से विरक्ति पूर्ण साम्यभाव सामायिक तथा हिंसा आदि से विरत होना-छेदोपस्थापना चारित्र है। यह संयम बुद्धि पूर्वक पलता है। समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषह-जय ये सब संयम के ही अन्तर्गत हैं। इन सभी का निर्विकल्प होकर संयम पूर्वक पालन करना चाहिए।

विशेष ऋद्धि के होने पर प्राणि-पीड़ा के परिहार की प्रवीणता परिहार-विशुद्धि, शेष सूक्ष्म लोभ के त्याग की कुशलता पूर्ण विशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय और निरुपधि स्वभाव की ख्याति-यथाख्यात है। इन सबके लिए संयम सेव्य है। इन्हीं से संवर और निर्जरा होती है तथा जो अपने आप में सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह सर्व परभावों से विमुक्त-मोक्ष इनसे स्वत: ही प्राप्त हो जाता हैं,

रचना-सार

इस प्रकार पूज्य 'सहजानन्द वर्णी' ने जीव को सुखी बनाने के ध्येय से सर्व प्रथम निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त और कर्तृ-कर्तृत्व का वर्णन कर जीव को सुख का स्वरूप दर्शाया है। उन्होंने आस्त्रव और बन्ध को दु:ख का कारण बताकर दु:ख रोकने के लिए संवर और तत्वों की व्याख्या की है। सुख के लिए उन्होंने मोक्ष को साध्य माना है तथा इस साध्य के-उत्तरोत्तर निर्मलता और केवलज्ञान हेतु बताये हैं। उनका अभिमत है ये दोनों हेतु बिना संयम के नहीं होते। अत: सुख के लिए संयम की साधना आवश्यक है। यदि सुखी होना है तो संयमी बनो।

जीव दया के आगार, दयाधर्म के प्रचारक संत। तुम्हें है हमारा कोटि-कोटि वन्दन। अर्पित है 'सुमन' सुखकारी है तुम्हारी यह कृति, वैसे ही जैसे ग्रीष्म में लगता मलयागिरि चन्दन। □

'णाणसायर' का अंक—2 कैसा लगा ?

कृपया अपने सुझाव हमें अवश्य भेजें।

सम्पादक की कलम से

जरा सोचिए, धर्म क्या है !

हर धर्म सद्‌भाव, सहिष्णुता और मानवता का पाठ पढ़ाता है और सद्‌वृत्तियों का विकास कर मनुष्य की चेतना का परिष्कार करता है। धर्म की कोई भी व्याख्या, कार्ल मार्क्स की 'धर्म को अफीम का नशा' बताने वाली व्याख्या भी राक्षसी प्रवृत्तियों की जड़ों को धर्म में स्वीकार नहीं करती है। आशय यह है कि धर्म जोड़ता है, तोड़ता नहीं। धर्म मनुष्य के संस्कारों को ऊंचाई देता है, गिरावट नहीं। दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है, संकीर्ण नहीं। फिर भी ऐसा क्या कारण है कि धरती बार-बार लहू से रंगी जाती है और उसकी आड़ में धर्म जड़ा मिलता है। सिद्धान्त और व्यवहार के बीच का यह अन्तर धरती और आकाश के अन्तर जैसा बड़ा क्यों है ? क्यों साम्प्रदायिकता की आग धर्म के चूल्हे से उठती है और बार-बार मानवता उसमें जलती है ? ये सारे प्रश्न आज अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इसलिए भी हो गए हैं क्योंकि मनुष्यता के सभी प्रकार के विकास एकता और सद्‌भाव के मोहताज हो गए हैं। इसलिए धर्म के मूल मर्म को समझने की आवश्यकता आज पहले से कहीं अधिक हो गई है।

अनेक आचार्यों और ऋषियों ने धर्म की व्याख्या विभिन्न रूपों में की है। धर्म चाहे धारण करने से 'धर्म' माना जाए या धरने मात्र से; दोनों ही स्थितियों में उसमें यह विलक्षण सामर्थ्य मानी गई है कि वह जीव को पतित होने से, कर्म-बंधन में फंसने से और संसार के दुःख भोगने से सिर्फ बचाता ही नहीं है बल्कि एक ऐसे उत्तम पद पर उसे पहुंचा देता है जहाँ दुख का नामों निशान तक नहीं होता इसी उत्तम पद प्राप्ति को 'मोक्ष' कहा गया है।

हर पदार्थ की तरह जीवात्मा का भी अपना 'स्व-भाव' है। जब कोई जीव रागद्वेष आदि के वशीभूत होकर 'पर-भाव' रूप में परिणमन करने लगता है। तब वह न केवल 'स्व-भाव' से च्युत हो जाता है, वरन् पर-भाव परिणामों के अनुसार अपने में कर्म-बन्ध जुटाने में लग जाता है। इसी कर्म-बन्ध से वह जन्म-पुनर्जन्म में पड़कर संसारी बनता है, ऐसा संसारी जीव जब धर्म को धारण करता है तब उसका न सिर्फ पर-भाव रूप परिणमन रुक जाता है बल्कि उसका आध्यात्मिक उत्थान भी होने लगता है। धर्म को धारण करने वाला जीवात्मा, आत्मिक उन्नति को प्राप्त करने के साथ-साथ आत्मिक सुख-आनन्द का भोग करने लगता है। इस आनन्द प्राप्ति को दार्शनिक जगत में 'निःश्रेयस प्राप्ति' माना गया है।

श्रमण संस्कृति की मान्यता है—धर्म व्यक्ति को संसरणात्मक जगत से ऊपर उठाता है और उसे निर्विकार शुद्ध-चैतन्य भाव में धर देता है, जिस तरह गीले गन्दे विस्तर पर पड़े रो रहे बालक को उठाकर दूसरे स्वच्छ निर्मल बिस्तर पर माता-पिता लिटा देता है वैसे ही कर्म-पङ्क में धंसे पड़े दुःखी व्यक्तियों को उठाकर अध्यात्म के निर्मल सुखद उच्चपद पर जो आसीन करा देता है—वह धर्म है।

स्पष्ट है—धर्म की निगाह में कोई भी अपना-पराया नही हो सकता। व्यक्ति की अपनी भावना ही उसमें एक दायरा बना देती है जिसमें सिमटकर वैठ जाने से उसकी सोच-समझ संकीर्ण वन जाती है। यथार्थतः सारे ब्रह्मांड में 'धर्म' एक ही है। दुनिया के हर देश में वही धर्म शाश्वत हो सकेगा जो मानव-मात्र के कल्याण चिन्तन के आधार पर जन्मा होगा और जिसमें आम आदमी को अधोगति से उठाकर शुभ सद्गति में पहुंचाने की सामर्थ्य होगी।

हम किसी धर्म को मानें, किसी की भी आराधना या उपासना करें, इन सब बाह्य औपचारिक बातों से कोई फर्क नहीं पड़ता। 'धर्म का मर्म' तो त्याग, सेवा, समर्पण और निष्ठा में ही है और सभी धर्म इन सद्गुणों को महत्त्व देते हैं। पर मनुष्य जब अपने धर्माचार्य के प्रति ममता या रागात्मकता के कारण अथवा अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार के कारण अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एकमात्र और अन्तिम सत्य मानने को बाध्य हो जाता है और अपने धर्म गुरू को ही सत्य का एकमात्र दृष्टा मान लेता है तो परिणाम स्वरूपी साम्प्रदायिक वैमनस्य का सूत्रपात होता है। और शान्तिप्रदाता 'धर्म' ही अशान्ति का कारण बन जाता है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि 'हम सच्चे और दूसरे झूठे' की भ्रान्त धारणा न पालें और सच्चे सत्य के अन्वेषी बनकर दूसरों में भी सत्य का दर्शन करें। हम 'धर्म' के सार तत्व को समझें, उसके प्राण के, उसकी आत्मा के उपासक बनें। केवल-बाह्य क्रिया काण्डों में ही उलझकर धार्मिक होने के भ्रम को अपने से दूर रखें। धर्म के मर्म को जीवन के साथ जोड़कर सहज ही जीवन में आनन्द को प्राप्त करें।

(पृष्ठ 74 का शेष)
गया, अनादिकाल से जो अनन्त असंख्य जीव अर्हत् और सिद्ध-पद को प्राप्त हो गए हैं और होगे उन्हीं का नाम ईश्वर है।

जैन धर्म के ये ईश्वर संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते न सृष्टि के संचालन में उनका हाथ है न वे किसी का भला-बुरा करते हैं। न वे किसी के स्तुतिवाद से प्रसन्न होते है, न ही किसी के निन्दावाद से अप्रसन्न। न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है, जिसे हम ऐश्वर्य या वैभव के नाम से पुकार सकें, न ही वे किसी को उसके अपराधों का दण्ड देते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयं सिद्ध है। जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही सुख-दुःख पाते हैं।

इस प्रकार, जैनदृष्टि ने चैतन्य जीव को आत्मा मानकर मानव चेतना को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। पुनः ईश्वर की तथाकथित सर्वशक्तिमत्ता का खण्डन कर और मनुष्य-शक्ति को सर्वोपरि मूल्य देकर पूर्ण मानवतावाद की प्रतिष्ठाकी है □

(पृ० 55 का शेष)
७. वही, १/२० ८. प्रवचनसारोद्धार, द्वार ४२ पद्मानन्दमहाकाव्य, १/३
९. जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, ७१५. १०. वही, २२. ११. वही, ६२-६३
१२. उमाकांत परमानन्द शाहा, स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० ४।
१३. श्लोक ९२३-९२६ १४. श्लोक १८—२१
१५. प्रतिष्ठासारोद्धार, १ १७५
१६. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ ११२, दौबलि शास्त्री श्रवण बेल्गुल की प्रति से उद्धृत अंश के अनुसार।
१७. ग्रन्थ प्रशस्ति, पन्ना १५० १८ श्लोक ६९७—६९९

(पृष्ठ 79 का शेष)
२७. सत्वेषुमैत्री गुणिषुप्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव॥
अमितामतिः सामायिक पाठ
२८. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥ पात. योग. 2/१
२९. पात. योग. व्यासभाष्य २/१
३०. अर्हत्पुराण पुरुषोत्तम पावनानि, वस्तून्यनूतमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमनाजुहोमि॥
३१. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ पात. योग. २/२, ३२. वही २/३
३३. अशरणम शुभमनित्यं दुःखमनात्मानभावस्त्रमि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामायिके॥

पाठक प्रतिक्रिया

आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज—पत्रिका प्रारम्भ से अन्त तक देखी। सम्पादक का प्रयत्न अच्छा है। सब कुछ आगमानुकूल है—आगम से हटकर एक शब्द भी नहीं।

परम विदुषी माँ कौशल—वाणी का विशाल भण्डार है। जिसमें अनेक विशाल गंभीर ग्रंथ संचित है। आज के मानव के पास इतना समय कहाँ जो उन सबका पारायण कर सके उस अथाह ज्ञान सागर में से कुछ उपयोगी रत्न बीनकर सरल भाषा रूप सूत्रों में गूंथ कर घर-घर जन-जन तक पहुंचाने का लोकोपकारी कार्य आज की ये पत्रिकाऐं करती हैं। उनमें सार्थक नाम रखने वाली 'णाणसायर' पत्रिका प्राप्त हुई। वास्तव में यह प्रथम प्रयास है किन्तु है अद्वितीय। इसमें केवल पृष्ठों की संख्या का ही आकलन वा लौकिक सामग्री का ही संकलन नहीं अपितु पारमार्थिक विषय का संयोजन भी है। मेरी भावना है कि पत्रिका सरल व सहज बुद्धिगम्य शैली में सत्य की परिभाषा नहीं, बल्कि सत्य की अनुभूति का उपाय दर्शायेगी।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया—बीना (म० प्र०)—'णाणसायर' उत्तम है और सभी प्रकार के पाठकों के लिए पठनीय है। "जैसा नाम—वैसा काम"। आपका प्रयत्न स्तुत्य है

प्रो० अक्षय कुमार जैन, इन्दौर—'णाणसायर' का प्रवेशांक मिला। अनुपम, अद्भुत, मौलिक अभिनंदनीय। इसे आप विश्व जैन मिशन द्वारा विदेशों में अवश्य भिजवायें। प्रत्येक जैन पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, लायब्रेरी, शास्त्रागार रात्रि जैन शालायों, आश्रमों में ऐसी पत्रिका अनिवार्य हो। ऐसा कुछ करें। यदि आचार्य, मुनि, विद्वान, पंड़ित वर्ग इसके स्थायी ग्राहक बन सके तो यह प्रयास जैन धर्म-संस्कृति के पुनरुत्थान में ही सहायक नहीं होगा, अपितु नयी पीढ़ी और जैन युवकों में क्रांतिदर्शी श्रद्धा और धर्म के प्रति आस्था भी जागृत करेगा। वस्तु-विषय संपादन-संकलन में आपकी प्रतिभा बेजोड़ हैं। मेरी कामना है कि यह प्रयास स्थायी दीर्घजीवी और सर्व सुलभ हो।

डॉ श्रीरंजन सूरिदेव, पटना—'णाणसायर' होनहार बिरवान के होत चिकने पात' कहावत को चारितार्थ करता है। यथाकलित सामग्री की गुणात्मकता की दृष्टि से अपने 'ज्ञान सागर' नाम को अन्वर्थ करता है। आज जैन धर्म-दर्शन का व्यावहारिक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है। मेरी आकांक्षा है कि 'णाणसायर' इस दशा में ऐतिहासिक क्रोशशिला का संस्थापक

बने, ताकि जैन पत्रकारिता जगत् में इसका सर्वथा स्वतन्त्र और नवीन अभि-ज्ञान स्थापित हो।

डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन, मद्रास—भाई अशोक जी, आप कर्मठ एवं चैतन्य सम्पन्न व्यक्ति हैं, प्रवेशांक से जितनी आशा की जा सकती हैं, वह घटित हुई है।

डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, आगरा—निश्चय ही 'णाणसायर' रिसर्च जनरल है। हमें आशा ही नहीं, विश्वास भी होता है कि यह पत्रिका अपने क्षेत्र में अद्वितीय है और निरन्तर प्रगति के सोपान पर पहुंचेगी। सच तो यह है कि जैन साहित्य के क्षेत्र में जो जागृति दिखाई पड़ी है, उसके प्रकाशन में यह पत्रिका महती भूमिका प्रस्तुत करते हुए अपने नाम की सार्थकता प्रमाणित करेगी।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, जयपुर—'णाणसायर' में महत्वपूर्ण सूचनाऐं हैं अतः सभी जैन अनुशीलन संस्थाएं उसका स्वागत करेंगी।

डॉ० भागचन्द्र जैन, नागपुर—प्रवेशांक विषय सामग्री और साज-सज्जा दोनों दृष्टियों से उत्तम कोटि का है। आशा है सामाजिक जागरण में यह पत्रिका अपनी अर्हं भूमिका निभायेगी।

डॉ० अजित शुकदेव शर्मा, शान्ति निकेतन (प. बंगाल)—वस्तुतः 'णाणसायर' का प्रवेशांक जैन-विद्या के क्षेत्र में एक नया प्रतिमान बनकर प्रतिष्ठापित हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसकी सारी रचनाऐं रेखांकित है और सजग अध्येताओं को संतुष्ट करने में सक्षम है। रचना की सूक्ष्मता एवं गहरे पैठने की प्रवृत्ति न केवल लेखकों की पैनी मेधा शक्ति का द्योतक है बल्कि सम्पादक-मंडल की सूझ-बूझ एवं पारखी-वृत्ति का भी परिचायक है।

डॉ० प्रेमचन्द्र रांवका, महापुरा (जयपुर)—'णाणसायर' अन्य पत्र/पत्रिकाओं से हटकर अपना अलग-अलग ही वैशिष्ट्य और अस्तित्व रखता है। जिसमें हृदय और बुद्धि के तृप्तार्थ विवेकी मनीषियों के आलेख उपलब्ध हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरं की शुद्ध साहित्य सामग्री से संयुक्त यह 'णाणसायर' प्रत्येक विवेकी पाठक को परितृप्त करेगा। निश्चित ही श्रमण संस्कृति के शाश्वत मूल्यों का अनुशीलन कर पाठकों के आत्मोत्थान में प्रेरणा दीप बनेगा।

श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जावरा (म०प्र०)—सभी रचनाएं सुरुचिपूर्ण, ज्ञान वर्धक, प्रेरणास्पद हैं। उच्चकोटि के लेखकों द्वारा लिखे गए विचार-प्रधान निबन्ध अपनी भाषा-शैली का भी कीर्तिमान कायम करेंगे। आपका पत्र शोधार्थियों के लिए अतीव उपयोगी होगा। इसमें कोई संदेह नहीं।

डॉ० आर. के. चन्द्रा, अहमदाबाद—भगवान महावीर की उदारता और

सभी प्राणियों के प्रति उनकी दया-भावना तथा उनका सापेक्षवाद हम लोगों के जीवन में उतर सका है क्या ? यदि कोई भी पत्रिका ऐसा कार्य करती है तो वह वंदनीय एवं प्रशंसनीय है। कामना करता हूं कि आपकी पत्रिका जन-जन में मैत्री और प्रेमभाव बढ़ाने का प्रयत्न करेगी।

प्रा. प्रताप कुमार टोलिया, बेंगलोर—वास्तव में 'णाणसायर' के ज्ञान एवं भाषा-साहित्य दोनों के स्तर को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपकी आद्यांत सफलता के लिए प्रार्थना।

डॉ. ए. बी. दिगे—वारंगानगर (कोल्हापुर)—'णाणसायर' के प्रवेशांक में जो लेख छप गए हैं, वह बहुत ही प्रशंसनीय है। आशा है आप जैसे प्रबुद्ध संपादक के हाथों में 'णाणसायर' बहुत ही रोचक एवं मननीय होगा।

डॉ. रतन चन्द्र जैन, भोपाल—जैन सिद्धान्त के विविध पक्षों का शोधपूर्ण विवरण सरल भाषा मे जिज्ञासुओं तक पहुंचाने में पत्रिका महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी—ऐसी आशा है।

डॉ. फूल चन्द्र 'प्रेमी', वाराणसी—वस्तुतः 'णाणसायर' जैसी स्तरीय पत्रिका ने प्रवेशांक से ही जैन पत्र-पत्रिकाओं में अपना शीर्षस्थ स्थान बना लिया है।

Dr. Vilas A. Sangave—Kolhapur

It is very heartening to find selective articles of eminent scholars have been included in the Ist issue. The lay-out of the journal and the clear and correct printing of the journal have added considerably to the fine get-up of the journal. I hope that articles on diffrent branches of Jainology will be included in the future issues of the journal. I also think that it would be better if the concise summeries of Ph. D. Thesis on Jainology are published in the journal for the benefit of Scholars and new research students. On the same lines the brief accounts of activities of various Research Institutes or University Deptts. in the field of research studies in Jainology can also be regularly given in the journal. I wish the journal every success in its Career.

प्रकाशक, मुद्रक : अशोक जैन द्वारा बी-5/263, यमुना विहार, दिल्ली-53 से प्रकाशित तथा सविता प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित।

विनम्र निवेदन

श्रमण साधु–साध्वी उन घरों में आहार न लें जहाँ परिवार का कोई भी सदस्य शराब पीता हो।

—एस० हस्तीमल जैन

श्री साहिब चन्द हस्तीमल जैन
चेरीटेबल ट्रस्ट
सिकन्द्राबाद (आंध्र प्रदेश) द्वारा प्रचारित